सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य - एक दार्शनिक अनुशीलन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद की
डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध - प्रबन्ध
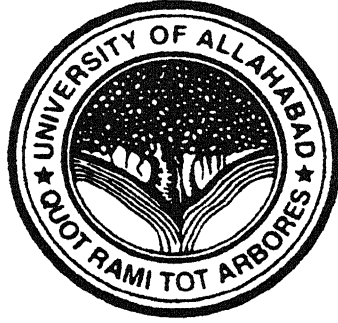
पर्यवेक्षक
प्रो० रामलाल सिंह
दर्शनशास्त्र विभाग

प्रस्तुतकर्ता
प्रशान्त कुमार सिंह
शोध छात्र (एस० आर० एफ०), दर्शनशास्त्र विभाग

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
2003

पुरोवाक्

मानव जाति के सतत् जीवन प्रवाह के पश्च में कार्यरत अनेकानेक शक्तियों में अवधारणाओं की अद्भुत सामर्थ्य का विशेष स्थान है। आन्तरिक व वाह्य कारणों से हुए मानस मंथन से उद्भूत अवधारणाएं प्रभाव की व्यापकता और गहनता की दृष्टि से दर्शों क निर्माण व विकास को प्रेरित करती हैं। यही अवधारणाएं सुव्यवस्थित प्रणाली के तहत परम्परा के रुप में देश को उन्नति के पथ पर अग्रसरित करती हैं, एवम् जनमानस को अत्युच्च आदर्श के रूप में प्रेरित करती हैं। ऐसी ही महत्वपूर्ण संकल्पना है- "सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य।"

सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की संकल्पना मूलत: स्वातन्त्र्य बोध के साथ पैदा हुई और यह देश की आजादी के लिए चले सघर्ष में एक प्रेरक और उत्साहवर्धक भूमिका अदा करती रही। इस अवधारणा ने न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन को लक्ष्यहीन व दिग्भ्रमित होने से बचाये रखा वरन् उसकी पूरी प्रक्रिया एवम् परिणाम का भी प्रभावित किया। आज भी देश के नव निर्माण और विकास मं इस सकल्पना की महत्वपूर्ण भूमिका है। अतएव इस सकल्पना की न केवल ऐतिहासिक भूमिका वरन् दार्शनिक व वैचारिक भूमिका को सही तरीके से आंका जाना बेहद जरूरी है।

किसी विचारधारा, अवधारणा, मत-विशेष की अपरिहार्यता और केन्द्रीयता बहुत कुछ इस वात स तय होती है कि उस पर समाज का बुद्धिजीवी वर्ग कैसा रूख अख्तियार करता है। समय के साथ जो प्रत्यय अपनी अर्थवत्ता खो चुके होते हैं उन पर कभी-कभार किसी प्रसंग में एकेडमिक चर्चा हो जाती है, अन्यथा गुमनामी मं खो जाना उनकी नियति बचती है। किन्तु सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की सकल्पना के साथ ऐसा नहीं हुआ हैं। इन सकल्पनाओं के मूल में ही वह आशय निहित था जो इसे महज तात्कालिक मुद्दा नहीं बनने दे सकता था। आज भी य अवधारणाए गभीर आत्ममथन और तटस्थ किन्तु सक्रिय विचार विमर्श की माग करती है। वस्तुत: इस मूल संकल्पना की अर्थवत्ता को और उस पर विचार की वहुविध

सम्भावनाओं को और उनकी समसामयिक प्रासंगिकता को तलाशने और तराशने की कोशिश ही इस शोध प्रबन्ध का मूल निहितार्थ है।

सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य जैसी अवधारणाओं का दार्शनिक अनुशीलन कर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करना एक दुष्कर कार्य था, क्योंकि इन अवधारणाओं को सामान्यत: स्थूल रूप में ऐतिहासिक, आर्थिक एवम् राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ही जाँचने और परखने की कोशिश की जाती रही है। किन्तु इस विषय पर शोध करने की मेरी इच्छा ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया।

प्रस्तुत शोध विषय के निर्धारण में अनेक कारकों ने महती भूमिका निभायी। इसमें गांधी जीवन दर्शन के प्रति अत्यधिक आकर्षण और उस सन्दर्भ में अल्पज्ञान के कारण उत्पन्न जिज्ञासा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण था। गांधी जी के व्यक्तितत्व के विशिष्ट पहलुओं-विचार और कर्म की एकता, समग्र पारदर्शिता, व जीवन का सत्याग्रह से ओत-प्रोत क्रान्तिकारी ढंग- ने सदैव आकृष्ट किया। गाधीवाद की वर्तमान प्रासंगिकता अर्थात् आधुनिकता की आंधी में गांधी कहां तक प्रासंगिक है, इस तथ्य का अन्वेषण सदैव उद्वेलित करता रहा। किन्तु गांधी दर्शन की समझ व प्रासंगिकता की परख सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की अवधारणाओं के अनुशीलन के बिना सम्भव नहीं था। क्योंकि गांधीवाद अथवा गांधी दर्शन सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की अवधारणाओं का एक संजाल है। इन्हीं अवधारणाओं में सम्पूर्ण गांधी चिंतन समाहित है। अतएव प्रत्यक्ष रूप से इन्हीं अवधारणाओं का शोध विषय के रूप में चयन किया गया।

दूसरे, इस विषय चयन को मूर्त रूप देने में तत्कालीन परिस्थितियां भी प्रेरक का कार्य की। शोध प्रवेश के नामांकन के वर्ष (1997-98) आजादी की पचासवीं वर्षगांठ मनायी जा रही थी। ऐसे में प्रत्येक प्रबुद्ध भारतवासी के समक्ष यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित था कि आजादी के बाद उभरे हुए विकास और राष्ट्र निर्माण के अवसरों एवम् सम्भावनाओं का देश और देशवासियों ने क्या लाभ उठाया? क्या हमारा पिछले पाँच दशकों का इतिहास सम्भावनाओं को उपलब्धियों में बदलने की कोशिशों का इतिहास है या वह एक के बाद एक अवसरों को खो देने

या हाथ से जाने देने का इतिहास है? अतएव यह प्रश्न अनिवार्य रूप से उठ खड़ा हुआ कि आजादी के पॉच दशकों के बाद भारत किधर? इस तथ्य का अन्वेषण व अनुशीलन प्रारम्भ हुआ कि पॉच दशको के बाद हमारी स्वराज्य की परिभाषा क्या है और हमने किन वर्गो और समुदायों के लिए स्वराज्य हासिल किया है? इसी परिप्रेक्ष्य में स्वाधीनता की स्वर्ण जयंती के अवसर पर संसद को सम्बोधित करते हुए तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष पी.ए. संगमा ने आजादी की दूसरी लड़ाई का उद्‌घोष किया। इस उद्‌घोष ने प्रतीकात्मक रूप में स्वराज्य की अवधारणा पर नये व व्यापक सिरे से चिंतन के लिए उद्वेलित व आन्दोलित किया। लेकिन इस पर व्यापक चिंतन, सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की अवधारणाओं के मूल में निहित मान्यताओं, आदर्शो व मूल्यों को समझने के पश्चात् ही सम्भव था।

तीसरे, यह दशक जिस लिए सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक्र परिचर्चा के केन्द्र में रहा वह है-उदारीकरण व वैश्वीकरण की अवधारणा। इसी वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में स्वदेशी की संकल्पना परिचर्चा के केन्द्र में आयी। ऐसे में स्वदेशी की संकल्पना के प्रति जिज्ञासा व आकर्षण होना स्वाभाविक था। इस प्रकार "सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य" की अवधारणा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में एक साथ दार्शनिक अनुशीलन का विषय बनी।

मेरे लिए सपनों के पूरा होने जैसा है, इस शोध-प्रबन्ध का पूर्णता की परिणति को प्राप्त होना। शोध कार्य की पूर्णता में श्रद्धेय गुरूवर प्रो. रामलाल सिंह ने हर दृष्टि से महती भूमिका निभायी। उनके बिना इस शोध-सिन्धु का संतरण मेरे लिये सम्भव नहीं था। स्नातक छात्र के रूप में प्रथम साक्षात्कार के समय से ही उनका ओजपूर्ण व्यक्तितत्त्व सदैव मुझे प्रेरणा देता रहा। शोध अवधि के दौरान उन्होंने विषय के संदर्भ में मेरी अन्तर्दृष्टि विकसित की तथा बराबर उत्साहवर्द्धन करते रहे। आपकी उदारता, निरन्तर प्रेरणा एवम् आत्मीयता के फलस्वरूप ही मै अपने लक्ष्य तक पहुँच सका। श्रद्धेय गुरूजी के प्रति आभार प्रकट करना धृष्टता होगी। इसी संदर्भ में विभागीय गुरूजनों- प्रो. डी.एन. द्विवेदी, डा. एस.के. सेठ, डा. मृदुला रविप्रकाश, डा. नरेन्द्र सिंह, डा. हरिशंकर उपाध्याय, डा. जटाशंकर, डा. गौरी चट्‌टोपाध्याय, डा.

आशा लाल एवं डा. श्रीकान्त मिश्र- जिन्होंने सदैव उत्साहित किया और जिनसे अनवरत कार्य करते रहने की प्रेरणा मिली, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन उनके द्वारा सिखाये गये मूल्यों के आजीवन निर्वहन में ही है। इसी क्रम में डा. सूर्यनारायण (प्रवक्ता. हिन्दी विभाग) डा. प्रणय कृष्ण (प्रवक्ता, हिन्दी विभाग) डा. अनिल सिंह एवं श्री इन्द्र विक्रम सिंह से जो मुझे आत्मीयता, सहयोग एवं मार्ग दर्शन मिला, मैं इसके लिए उनका सदैव आभारी रहूँगा।

पारिवारिक स्तर पर ममतामयी मॉ श्रीमती ऊषा सिंह एवं परम पूज्य पिता डा. राजमणि सिंह के आशीर्वाद से ही शोध कार्य पूर्ण हो सका है। उन्होंने मुझे सदैव आशावाद के मूलमंत्र एवं कर्तव्य पथ पर डटे रहने की प्रेरणा दी। पितृव्य श्री कीर्तिराज सिंह की बार-बार पूछ-ताछ मेरे लिये नयी ऊर्जा का संचार करता रहा। मैं अपने मामा श्री विनोद कुमार सिंह (पी.सी.एस.), श्री प्रमोद कुमार सिंह (पी.सी.एस.), श्री आनन्द कुमार सिंह (पी.सी.एस.) एवं श्री सच्चिदानन्द सिंह (पी.सी.एस.) के सतत् सरक्षण एव निर्देशन में अपने पथ, पाथेय और पथ की दिशा निश्चित कर सका। मैं अपने बहनोई श्री रविप्रताप सिंह एव बहन प्रियंका सिंह, जिन्हांने शोध कार्य के दौरान आये अवसाद के क्षणों से न केवल मुक्ति दिलायी बल्कि बार-बार कर्म के प्रति जूझने की प्रेरणा भी देते रहे, के प्रति आभार प्रकट करके ऋण मुक्त नहीं हो सकता। यह इन्हीं लोगों के आशीर्वाद का सुफल है कि शोध-प्रबन्ध वर्तमान कलेवर प्राप्त कर सका।

मैं अपने शुभेच्छुओं श्री शोभित त्रिपाठी, श्री चन्द्रभान सिंह, श्री रणन्जय वर्मा, श्री प्रभात कुमार सिंह, श्री विनोद कुमार मिश्रा, श्री राजेश कुमार मद्धेशिया, श्री अनिरूद्ध सिंह श्री संतोष कुमार सिंह, श्री धर्मेन्द्र कुमार सिह, श्री अजय कुमार सिंह, श्री रामसुभग सिह, श्री अजीत सिंह, श्री अखिलेश कुमार राय, श्री नीरज कुमार द्विवेदी का आभारी हूॅ जो किसी न किसी रूप में मेरे शोध कार्य से जुड़े रहे। मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूॅगा श्री कमल गुप्ता, श्री ओमप्रकाश त्रिपाठी, एवं श्री दिनेश कुमार सिह का जिनके लिए मेरा स्वर सदैव आदेशात्मक ही रहा, इनके प्रति आभार प्रगट कर मैं इनके सहयोग को न्यून नहीं करना चाहता।

शोध सामग्री के संचयन में मैंने विभिन्न पुस्तकालयों एवं सरकारी संस्थानों का उपयोग किया। इनमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, गांधी भवन, चैथम लाईन इलाहाबाद, गोविन्द बल्लभपंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूँसी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, गांधी विद्या संस्थान राजघाट, वाराणसी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय व जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की सेन्ट्रल लाइब्रेरी तथा भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, बटलर पैलेस, लखनऊ की लाइब्रेरी से सम्पर्क किया। इनके अधिकारियों एवं कर्मचारियों के सहयोग के प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक मदद से ही यह कार्य सम्भव हो सका। इसके लिए मैं उसका आभारी हूँ।

मैं अपने टंककों आइडियल कम्प्यूटर के श्री विशाल वाजपेयी एवं उनके सहयोगी श्री रामअवतार भारद्वाज को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अल्प समय में शोध-प्रबन्ध को टंकित किया।

प्रशान्त कुमार सिंह

प्रशान्त कुमार सिंह

शोध छात्र (एस.आर.एफ.),

दर्शनशास्त्र विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

भूमिका

'सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य' की संकल्पना प्रकारान्तर से गांधी दर्शन अथवा गांधीवाद का ही दूसरा नाम है। महात्मा गांधी द्वारा अनुप्रयुक्त सत्य और अहिंसा की संकल्पना का व्यावहारिक प्रतिफलन 'सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य' की अवधारणा में हुआ है। गांधी न तो अफलातूं और हीगल की तरह तत्वज्ञानी थे न शंकराचार्य एवम् कांट की तरह किसी दार्शनिक प्रस्थान के प्रणेता। उनका दर्शन वस्तुतः उनका जीवन दर्शन था। महात्मा गांधी को शास्त्रीय अथवा रूढ़िवादी अर्थो में भले ही दार्शनिक की श्रेणी में न रखा जाय किन्तु उनका चिंतन, सिद्धान्त व व्यवहार आज सम्पूर्ण विश्व के लिए शोध का विषय बना हुआ है। वर्तमान में जबकि व्यावहारिक दर्शन पर जोर दिया जाने लगा है, ऐसे में महात्मा गांधी का चितन और व्यवहार शोध के लिए और भी अधिक प्रासंगिक हो चला है, जिसकी उपेक्षा सम्भव नहीं।

गांधी जी ने अपने चिंतन को अमूर्त प्रत्ययों की ओर न कर वरन् जीवन और जगत् की व्यावहारिक समस्याओं से जोड़ा, जिसके द्वारा स्वतन्त्रता, समानता एवम् बन्धुत्व पर आधारित समृद्ध तथा खुशहाल समाज की स्थापना की जा सके। गांधी जी बराबर कहा करते थे कि मैं व्यावहारिक आदर्शवादी हूँ। महात्मा गांधी के विचार को मार्क्सीय शब्दावली में इस रुप में उद्धृत किया जा सकता है कि 'दार्शनिकों ने अभी तक विभिन्न ढंगों से विश्व की व्याख्या मात्र की है, जबकि वास्तविक कार्य इसे बदलना या परिवर्तित करना है। इस प्रकार मार्क्स की तरह गाधी ने भी दर्शन के विषय-क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास किया। गाधीवाद सैद्धान्तिक स्तर पर मार्क्सवाद की तरह भले ही उतना क्रमबद्ध और व्यवस्थित न हो किन्तु व्यावहारिक स्तर पर यह मार्क्सवाद की अपेक्षा सर्वकल्याणकारी, स्थायी, मानवतावादी, क्रान्तिकारी व वैज्ञानिक है। विज्ञान तो उनका जीवन धर्म था क्योंकि प्रयोग के बिना उन्होंने कभी कोई बात नहीं रखी।

यद्यपि महात्मा गांधी ने स्वयं इस तथ्य को स्पष्टतः कहा है कि गांधीवाद जैसी कोई चीज मेरे दिमाग में नहीं है। मैं कोई सम्प्रदाय-प्रवर्तक नहीं हूँ तथा मेरा

जीवन ही मेरा संदेश है। किन्तु इसके बावजूद गांधी जी के चिंतन, व्यवहार व कृतित्व को गांधी दर्शन अथवा गांधीवाद की संज्ञा दी जाती है। वस्तुत: गांधीजी में अपने विचारों को सरल, सुस्पष्ट एवम् सार्थक रीति से लिख डालने की अद्‌भुत क्षमता थी तथा लेखनी पर असाधारण अधिकार। गांधी जी अपनी अनेकानेक रचनाओं, पत्रों, लेखों और भाषणों के रूप में संसार के लिए अपने विचारों, कार्यकलापों एवम् स्वप्नों का वृहत् अभिलेख छोड़ गये हैं। जो परिमाण एवं गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वे बराबर विकास की प्रक्रिया के अन्दर से गुजरते रहे और नये अनुभवों के प्रकाश में निरन्तर अपने विचारों में संशोधन एवम् परिवर्धन कर उन्हें व्यापक बनाया। साथ ही अपनी धारणाओं की प्रमाणिकता और उपयोगिता के परीक्षण के लिए प्रयोग के साधनों का भी आविष्कार करते चलते थे। इस प्रक्रिया में उन्होंने स्वयं को और अपने सहकर्मियों को एक गतिशील मानवीय प्रयोगशाला का रूप दे दिया था। स्पष्ट है कि गांधी जी ने इस संसार में रहकर जो कुछ किया, उनमें उनके सम्पूर्ण सिद्धान्त और आदर्श समाहित हैं। उनका दर्शन उनके बहुमुखी जीवन का व्यवहार सूत्र है।

महात्मा गांधी के वैचारिक चिंतन की यह महत्वपूर्ण विशिष्टता है कि उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों का पृथक्-पृथक् रूप में वर्गीकरण नहीं किया वरन् सभी क्षेत्रों को परस्पर सम्बन्धित व एक दूसरे के पूरक के रूप में विश्लेषित किया। इसी अनुक्रम में सत्याग्रह, स्वदेशी एवं स्वराज्य की संकल्पना एक साथ उनके दर्शन का आधार स्तम्भ बनी। इनका प्रयोग सैनिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के निस्तारण व आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के रूप में किया गया। वस्तुत: राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मानवीय क्रियाकलाप अथवा सम्बन्धों का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो गांधी जी के चुम्बकीय व्यक्तित्व से प्रभावित व लाभान्वित न हुआ हो। इसी अद्‌भुत व्यक्तित्व से आकर्षित व प्रभावित होकर आईस्टीन ने कहा था कि आने वाली पीढ़ियाँ शायद ही विश्वास कर सकेंगी कि उन जैसा हाड-मांस का पुतला कभी इस धरती पर पैदा हुआ था।

गांधी जी निश्चय ही प्राचीन युगों की महान आत्माओं के समकक्ष थे, जिनके विलक्षण व्यक्तितत्वों का इतिहास हम आज भी संजोए बैठें हैं। महात्मा गांधी को विपरीत ध्रुवों के बीच समन्वय स्थापित करने की कला में महारत हासिल थी। वह अपने व्यवहार में संत थे और विचारों में क्रांतिकारी, खदबदाती राजनीति के आगे चलने वाले विराट राजनेता थे तो सामाजिक विकृतियों की जड़ों पर चोट करने वाले समाज सुधारक भी। उनके दिल का एक कोना अविचल आस्थाओं से भरा पड़ा था तो दूसरे कोने में उतना ही तीक्ष्ण तर्कशास्त्र भी मौजूद था। वे विशुद्ध सनातनी हिन्दू थे लेकिन उनकी प्रार्थना सभाओं में सारे धर्मों की प्रार्थनाएं गूंजती थी। भारत के हितों के लिए बार-बार जान की बाजी लगाने वाले राष्ट्रवादी थे तो दूसरी ओर निरन्तर सम्पूर्ण मानवता का हित चाहने वाले अन्तर्राष्ट्रवादी भी। बीमारों की देखभाल करने वाले स्वयंसेवक थे तो छोटी-बड़ी बीमारियों का स्वयं इलाज करने वाले चिकित्सक भी। इस महात्मा का अपना एक स्वप्नलोक था जिसमें वह सपने में भी सपना देख सकते थे तो वह इतना सक्रिय भी थे कि छोटी से छोटी समस्या को लेकर गतिशील हो जाते थे। वह हर रोज तीन-तीन हजार शब्द लिख-बोल सकते थे और लम्बे समय तक मौन भी रह सकते थे। वह अहिंसा को अपने सामाजिक-राजनीतिक जीवन का मूल मंत्र मानकर चलते थे तो 'करो या मरो' का नारा भी दे सकते थे। अपनी मृत्यु से पहले अपने बारे में कोई राय न बनाने की सलाह भी देते थे तो 1909 में लिखी अपनी पुस्तिका 'हिन्द स्वराज' को ही अंतिम मानने का आग्रह अंत तक बरकरार रख सकते थे। कांग्रेस को राजनीतिक संगठनात्मकता और लोकप्रियता के शीर्ष पर इसी महात्मा ने पहुंचाया था और इसी कांग्रेस को भंग करने का सुझाव भी इस महात्मा ने दिया था। वह देवता नहीं थे लेकिन देवदूत बन गये थे। वह इतना व्यस्त थे कि उनके पास अपने लिए भी समय नहीं था और उनके पास इतना समय था कि हर किसी से मिल लेते थे। वह इतना खुले थे कि उनके घर और आश्रम के दरवाजे सबके लिए खुले रहते थे साथ ही इतना रहस्यमय कि उनके व्यक्तितत्व की गुत्थिया आज भी उलझी हुई है। वह अनगिनत सामाजिक 'सत्यों' को 'असत्य' ठहरा सकते थे तो सत्य के साथ प्रयोग करते हुए अनगिनत असत्यों को सत्य भी मान लेते थे। वह सत्याग्रही भी थे और

शिक्षाशास्त्री भी। उन्हें हिन्दी से लगाव था मगर अंग्रेजी से परहेज नहीं था। पार्टी में लोकतन्त्र कायम करने के लिए कांग्रेस की गांव-कमेटियों पर जोर देते थे तो इसी कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्यसमिति को अपने सामने घुटने टेकने को मजबूर भी कर सकते थे। वह इतना झुक सकते थे कि खुद हरिजन बस्ती में जाकर रहे और इतना अड़ सकते थे कि ब्रिटेन की समूची सत्ता को झुका दे। वह आधुनिकता को आत्मसात् करते थे और पुरातनता को भी अपनाये रखते थे। उन्हें वर्णव्यवस्था पर एतराज नहीं था पर अस्पृश्यता किसी भी हाल में मंजूर नहीं थी। वह इतने लोकतान्त्रिक थे कि हर एक की बात सुनते थे और साथ ही इतना अलोकतान्त्रिक कि हर एक को अपनी बात मनवाना चाहते थे। वह शहरों के पूर्ण विरोध में नहीं खड़े होते थे किन्तु भारत का कायाकल्प गांव से करना चाहते थे। वह समूचे देश में आन्दोलन का शंखनाद करते थे और आन्दोलनकारियों के उग्र और उद्वेलित हो जाने पर आन्दोलन वापस भी ले लेते थे। वह पाकिस्तान बनता हुआ नहीं देखना चाहते थे लेकिन बने हुए पाकिस्तान को सहायता देना चाहते थे। गुलाम भारत ने उन्हें महानायक बनाया और यह उसकी त्रासदी थी कि आजाद भारत ने उनकी हत्या कर दी। वस्तुतः गांधीजी की द्वन्दात्मकता दो अशाम्यों का संघर्ष नहीं था। इसके विपरीत, वह निश्चित आदर्श के लिए प्रतिकूल द्वन्दों व विरोधाभासों को सत्याग्रह व जन संघर्षो द्वारा परिवर्तित करने का माध्यम थी।

वास्तव में गांधी जी में अपनी जनता के निम्नतम वर्ग की चिन्तन-प्रक्रियाओं के प्रति जैसी चेतनता थी, सामूहिक प्रयास को उत्प्रेरित कर देने की जो शक्ति थी तथा जैसी एकाग्र साधना और अक्षोभ्य स्थिरचित्तता थी, उससे कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। सभ्य मानवता के इतिहास में कभी भी किसी एक व्यक्ति ने अतीत की इतनी जटिल विरासतों से भाराक्रान्त विशाल जनसमूह के ऐसे दीर्घकालव्यापी संघर्ष को नेतृत्व और स्वरूप प्रदान करने में इतना बड़ा योगदान नहीं किया था। उनकी महानता इस बात में है कि उन्होंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि ससार का त्याग करने वाले महात्माओं का जीवन जिन सिद्धान्तों से परिचालित होता है, उन्हें सारे संसार पर लागू किया जा सकता है। वास्तव में आदर्श समाज व विश्व

व्यवस्था की स्थापना के लिए विभिन्न चिंतको व दार्शनिकों द्वारा समय-समय पर अनेक अवधारणाएं व सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये, किन्तु इन विचारों को व्यवहार के धरातल पर स्थापित करने हेतु व्यापक स्तर पर प्रयोग तथा संघर्ष महात्मा गांधी द्वारा ही किया गया।

गांधी जी ने मानवता के इतिहास को दो भागों में बांट दिया है- हिंसा का युग और अहिंसा का युग। उनकी मान्यता है कि मानवता का भविष्य केवल अहिंसा से ही सुरक्षित रह सकता है और यदि अहिंसा की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण विश्व में नहीं हुई तो हिंसा का जितना चरम विकास हो गया है इससे मानवता और विश्व का महासहार ही हो जायेगा। इस अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए ही उन्होंने सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की परिकल्पना की।

वर्तमान समय में विश्व मानव समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान गांधीवाद अथवा गांधी चिंतन में उपलब्ध है। उनके दर्शन को मानव प्रयास के सभी क्षेत्रों तथा व्यष्टि और समष्टि दोनों के लाभ व कल्याण के लिए कार्यान्वित किया जा सकता हैं। आवश्यकता इस बात की है कि देश-काल एवं परिस्थिति के अनुसार इसको और संशोधित, विकसित, परिवर्तित किया जाय, आगे और अनुसंधान किया जाय, किन्तु सब रूपों में मूलाधार अक्षुण्ण रखा जाय। वस्तुत: गांधी जी ने सार्वजनिक जीवन में नि:स्वार्थ सेवा और साधु आचरण की जो ज्योति जलायी है, वह शाश्वत शान्ति और विश्वबन्धुत्व के शिखर पर आरोहण के लिए मानव जाति की उर्ध्व यात्रा का मार्ग प्रकाशित कर रही है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में महात्मा गांधी के विचारों के साथ समसामयिक चिंतकों का व प्रमुख रूप से आचार्य विनोबा के विचारों का भी विवेचन व विश्लेषण किया गया है। क्योंकि इन्होंने प्रत्येक समस्या का विश्लेषण गांधीवादी दृष्टिकोण से किया है। सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, रचनात्मक कार्यक्रम व स्वराज्य इत्यादि उनके भी चितन के आधार रहे हैं। आचार्य विनोबा ने भी गांधीजी की तरह ही अपने चिंतन में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना पर विशेष बल दिया है तथा आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुरूप समाज को ढ़ालने के लिए 'माध्य एवं साधन' पर

गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। जिस प्रकार लेनिन ने कार्लमार्क्स के साम्यवादी विचारों को, जे.एस. मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों को, टी.एच. ग्रीन ने हीगल के आदर्शवादी विचारों को विकसित किया तथा नये सन्दर्भो में उसकी नवीन व्याख्या प्रसतुत की, उसी प्रकार आचार्य विनोबा ने भी गांधी दर्शन को विकसित किया है तथा बदलते सन्दर्भो में उसकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। इसके साथ ही विभिन्न विचारकों के मतों का भी तुलनात्मक रूप से अध्ययन कर प्रस्तुत विषय को व्यापक रूप से विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। बदलते परिवेश में प्रस्तुत अवधारणा की उपयोगिता व प्रासंगिकता की जांच-परख की गयी है।

अन्त में यह कहना समीचीन होगा कि जैसे पाप बढ़ने से ईश्वर की प्रासंगिकता बढ़ जाती है, कुछ वैसा ही गांधी-दर्शन के साथ हो रहा है। स्थितियों के जिस बिन्दु तक पहुँचते-पहुँचते अचनाक गांधीवाद अप्रासंगिक नजर आने लगता है, ठीक उसी बिन्दु पर कहीं से वह और अधिक प्रासंगिक बनकर उभर ही आता है। वस्तुत: समाज व विश्व के लिए वह दिन कितना महान होता जिस दिन गांधी हमारे लिए अप्रासंगिक हो जाते। लेकिन आज दुनियाँ में हो रहे अन्याय, घृणा, हिंसा, अत्याचार, शोषण ऐसा होने दे तब न। वे न समाप्त होने को आते हैं और न हमारे लिए गांधी को अप्रासंगिक होने देते है। वास्तव में गांधी की अप्रासंगिकता गांधीवादी मूल्यों व आदर्शो सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की संकल्पना की पूर्ण स्थापना में निहित है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में सत्याग्रह के आविष्कार से लेकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अनुप्रयुक्त समस्त सत्याग्रहों का निरूपण व मूल्यांकन किया गया है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सत्याग्रह शब्द का अर्थ, उसकी व्युत्पत्ति एवम् उसके सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिकों के विचार उल्लिखित हैं। इसके अन्तर्गत मुख्यतया महात्मा गांधी के साथ आचार्य विनोबा भावे की सत्याग्रह सम्बन्धी अवधारणा का विशेष निरूपण समाहित है। इसके पश्चात् उन सिद्धान्तों का विश्लेषण है जिन पर सत्याग्रह का सम्पूर्ण दर्शन आधारित है। उन दार्शनिक मान्यताओं की विवेचना की

गयी है, जो सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है। इसके अन्तर्गत मुख्यतया तत्वमीमांसीय, नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक मान्यतायें हैं। साथ ही एकादश व्रत का भी उल्लेख है। सत्याग्रह के स्वरूप को स्पष्ट करने के क्रम में सत्य एवम् अहिंसा की अवधारणा का व्यापक विश्लेषण एवम् उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया गया है। गांधी जी द्वारा समय-समय पर प्रयुक्त सत्याग्रह की विभिन्न प्रशाखाओं यथा असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, हड़ताल, हिजरत इत्यादि का निरूपण किया गया है। अन्त में सत्याग्रह की अवधारणा का निष्क्रिय प्रतिरोध एवम् दुराग्रह से तुलनात्मक विवेचन समाहित है।

द्वितीय अध्याय में सत्याग्रह पद्धति का अन्वेषण व विश्लेषण सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि के रूप में किया गया है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित एवम् व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि के रूप में एक तरफ जहाँ हिंसा पर आधारित मार्क्सवादी पद्धति व क्रांति का विवेचन है, वहीं दूसरी तरफ अहिंसा पर आधारित कानूनी या संवैधानिक पद्धति एवम् सत्याग्रह पद्धति का विश्लेषण समाहित है। सत्याग्रह पद्धति के अन्तर्गत मुख्य रूप से हृदय परिवर्तन, विचार परिवर्तन एवम् स्थिति परिवर्तन का विवेचन है। साथ ही इस बात की भी समीक्षा की गयी है कि किसी प्रजातान्त्रिक शासन पद्धति में सत्याग्रह का क्या स्थान एवम् उपयोगिता है? अर्थात् सत्याग्रह की सार्थकता केवल स्वतन्त्र राज्य या विदेशी शासन के सन्दर्भ में ही है या प्रजातन्त्र में भी इसका कोई स्थान है? दूसरे, क्या सत्याग्रह पद्धति की सफलता केवल प्रजातान्त्रिक शासन में ही सम्भव है या अन्य शासन पद्धति में भी? तीसरे, यह कि क्या प्रजातन्त्र सत्याग्रह प्रक्रिया के अभाव में कायम रह सकता है? इन प्रश्नों पर विचार इस अध्याय में किया गया है। अंत में सत्याग्रह पद्धति की व्यावहारिकता की समीक्षा की गयी है।

तृतीय अध्याय में स्वदेशी की अवधारणा का निरूपण एवम् विवेचन किया गया है। स्वदेशी के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक इत्यादि विभिन्न आयामों का विश्लेषण समाहित है। स्वदेशी के सन्दर्भ में विभिन्न चिंतकों के मतों का मुख्यतया-

स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्रपाल, सुभाष चन्द्रबोस और महात्मा गांधी के विचारों का उल्लेख है। महात्मा गांधी ने इस अवधारणा को व्यापक सन्दर्भो में देखा और ग्रहण किया है। अतएव उनके विचारों का व्यापक रूप से विवेचन व विश्लेषण किया गया है। साथ ही उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के संदर्भ में स्वदेशी की मूल्यवत्ता की समीक्षा की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में स्वराज्य की संकल्पना की विवेचना की गयी है। इसके सैद्धान्तिक एवम् व्यावहारिक पहलू, एवम् विभिन्न आयामों- राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक, सांस्कृतिक- का निरूपण किया गया है। स्वराज्य के सन्दर्भ में विभिन्न विचारकों मुख्यतया महात्मा गांधी, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष, लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्रपाल इत्यादि के मतों का विवेचन किया गया है। स्वराज्य की अवधारणा का पाश्चात्य राजनीतिक स्वतन्त्रता की अवधारणा के साथ तुलनात्मक विवेचन समाहित है। स्वराज्य का सर्वोदय ग्राम स्वराज्य एवम् रामराज्य के सन्दर्भ में भी वर्णन किया गया है। अंत में वैचारिक स्वराज्य के सन्दर्भ में मूलतः प्रो. के.सी. भट्टाचार्य के मतों की विवेचना की गयी है।

पंचम अध्याय के अन्तर्गत सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य इन तीनों संकल्पनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया गया है। अर्थात् सत्याग्रह एवम् स्वदेशी, सत्याग्रह और स्वराज्य व स्वदेशी तथा स्वराज्य किस प्रकार एक दूसरे के लिए आवश्यक व अपरिहार्य है। एक के विकास में दूसरे का विकास किस प्रकार निहित है। वस्तुतः जिस प्रकार सत, चित् और आनन्द एक दूसरे से पृथक नहीं उसी प्रकार सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य भी पारमार्थिक दृष्टि से अवियोज्य व अपृथक है। इन तीनों के मूल में सत्य व अहिंसा ही है। इन तीनों अवधारणाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विवेचन के पश्चात् साध्य और साधन के स्वरूप और विभिन्न दृष्टियों से उनके अन्तर्सम्बन्धों का विवेचन भी किया गया है।

निष्कर्षात्मक अनुलेख के अन्तर्गत इस बात की समीक्षा की गयी है कि वर्तमान समय में सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की संकल्पना कहां तक प्रासंगिक है? प्रकारान्तर से गांधीवाद कितना उपादेय है अथवा आधुनिकता की आंधी में गांधी कहा तक प्रासंगिक हैं? वर्तमान समय में विश्व मानव समुदाय के सम्मुख जो प्रमुख समस्यायें हैं उसका समाधान अनेक विचारधाराओं व वादों में ढूंढने की कोशिश की जा रही है। कुछ चुनौतियों ने तो मानव अस्तित्व के सम्मुख ही प्रश्नचिन्ह् खड़ा कर दिया है? इन चुनौतियों में हिंसा व आतंक की घटनायें, नैतिक मूल्यों का पतन, अमानवीयकरण, अतिभौतिकतावाद, उपभोक्तावादी संस्कृति, आर्थिक विषमता की वृद्धि, पर्यावरण प्रदूषण व पारिस्थितिकी असंतुलन, शस्त्रीकरण व परमाणु युद्धों का खतरा प्रमुख है। आज यहाँ तक कहा जा रहा है कि विश्व का विनाश परमाणु युद्धों से न होकर पर्यावरण संकट व पारिस्थितिकी असंतुलन से स्वत: हो जायेगा। वस्तुत: यह संकट हमारी उपभोक्तावादी संस्कृति की देन है। अतएव यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इक्कीसवीं सदी में विकास का आधार उपभोक्तावादी संस्कृति हो या आत्मसंयम की अवधारणा। उपरोक्त प्रश्नों व समस्याओं का समाधान निष्कर्षात्मक अनुलेख के अन्तर्गत ढूढ़ने का प्रयत्न किया गया है।

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

सत्याग्रह का आविष्कार एवं अनुप्रयोग

सत्य और अहिंसा गांधी जी की जीवन-निष्ठा के बुनियादी आधार हैं। गांधी जी का सम्पूर्ण जीवन निरन्तर चलने वाली सत्यानुसन्धान की एक तीर्थयात्रा है। अनुसन्धान की इस यात्रा में गांधी जी ने सत्याग्रह की अवधारणा का आविष्कार किया। 'सत्याग्रह' एक संयुक्त शब्द है जो संस्कृत भाषा के 'सत्य + आग्रह' इन दो शब्दों की सन्धि से बना है। स्पष्टत: इसका सामान्य अर्थ है 'सत्य पर दृढ़ता, हर स्थिति में सत्य को ही पकड़कर चलना'।[1] सत्याग्रह शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में गांधी जी ने लिखा है कि सत्याग्रह शब्द का निर्माण मेरे द्वारा दक्षिण अफ्रीका में उस शक्ति के लिए किया गया था जिसका पूरे आठ वर्षो (1906-1914 ई.) तक वहाँ के भारतीय प्रयोग करते रहे थे। उस समय इंग्लैंड तथा दक्षिण अफ्रीका में 'पैसिव रेजिस्टेंस' नाम से जो आन्दोलन चल रहा था उससे भेद दिखाने के लिए यह शब्द बनाया गया था।[2] वस्तुत: गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में लड़ी जाने वाली स्वतंत्रता की लड़ाई के नामकरण के लिए 'इण्डियन ओपिनियन' के पाठकों में प्रतियोगिता करवाई। इस प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप मगनलाल गांधी ने 'सत् + आग्रह' की सन्धि करके 'सदाग्रह' बना कर भेजा। परन्तु 'सदाग्रह' शब्द को अधिक स्पष्ट करने के विचार से गांधी जी ने बीच में 'य' अक्षर जोड़कर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया।[3]

वस्तुत: महात्मा गांधी के समग्र चिंतन का केन्द्र बिन्दु है 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह सत्य और अहिंसा के शाश्वत मूल्यों पर आधारित अवधारणा है। गांधी जी के अनुसार सत्य का अर्थ है 'प्रेम' और आग्रह का अर्थ है 'बल'। अतएव सत्याग्रह का तात्पर्य है ऐसा बल जो कि सत्य, प्रेम और अहिंसा से पैदा हुआ हो।[4] गांधी जी के शब्दों "मेरे लिए सत्याग्रह का नियम, प्रेम का नियम, एक शाश्वत नियम है। इसका मूलार्थ सत्य को ग्रहण करना है। इससे यह सत्य-शक्ति हैं। मैंने इसे प्रेम-शक्ति या आत्मशक्ति भी कहा है"।[5] जीन शार्प के अनुसार गांधी जी ने अन्याय से लड़ने के लिए नीतिबल पर आधारित अहिंसक युद्ध प्रणाली का आविष्कार

किया जिसे सत्याग्रह कहा गया है।[6] सत्य और अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह का मार्ग अहिंसक क्रान्ति का मार्ग या जेम्स डब्लू डगलस के शब्दों में 'नीरव क्रान्ति' है।[7] महादेव देसाई के अनुसार महात्मा गांधी द्वारा विकसित सामाजिक क्रान्ति की अनन्य पद्धति सत्याग्रह को 'प्रगतिशील अहिंसावाद'[8] कहा जा सकता है।

गांधी जी की दृष्टि में किसी भी संकट का सामना करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को दो शक्तियों-शारीरिक बल एवं आत्मबल- में से एक को चुनना पड़ता है। यही आत्मबल ही सत्याग्रह है।[9] सत्याग्रह विशुद्ध आत्मिक शक्ति है। आत्मा सत्य का स्वरूप है। इसलिए इस शक्ति को सत्याग्रह कहते है।[10] गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह मानव जीवन का शाश्वत धर्म है और वह हिंसा का, जो कि पशु धर्म है, स्थान लेने वाला है।[11] गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह का प्रथम और अन्तिम सिद्धान्त यह है कि हम दूसरों को कष्ट न पहुँचायें बल्कि न्याय प्राप्त करने के लिए स्वय कष्ट उठायें।[12] वस्तुत: सत्याग्रह दूसरों के लिए क्षमा और अपने लिए न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भय और प्रलोभन से प्रभावित हुए बिना केवल अहिंसात्मक उपायों की सहायता से सदैव सत्य पर दृढ रहना और मन, वचन, कर्म, से उसी के अनुसार आचरण करना सत्याग्रह है।[13] अर्थात् सत्याग्रह सत्य की निरापद खोज है।[14] सत्याग्रह का मूलाधार अहिंसा धर्म है।[15] एवं सत्याग्रह का बल दु:ख उठाने में ही है।[16]

आचार्य विनोबा के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ है, 'सत्य के लिए अहिंसापूर्वक आग्रह'[17]। अतएव स्पष्टत: सत्याग्रह अहिंसा का प्रयोग है। विनोबा के अनुसार सत्याग्रह में सत्य का आचरण स्वयं आग्रहपूर्वक करना चाहिए, जिससे सामने वाले का हृदय पिघल जाय। इसके लिए किसी भी प्रकार के त्याग के लिए तैयार रहना ही सही सत्याग्रह है।[18] विनोबा के अनुसार सत्याग्रह एक आत्मसंशोधन या आध्यात्मिक-सशोधन की पद्धति, विचार पद्धति, जीवन पद्धति, कार्यपद्धति और प्रतिकार की पद्धति है।[19] विनोबा का विचार है कि सत्याग्रह में आत्मसंशोधन की प्रक्रिया होती है जिसमें हम अपने दोषों, न्यूनताओं का निरीक्षण-परीक्षण, समीक्षण, निराकरण तथा संशोधन करते हैं।[20] विनोबा के अनुसार सत्याग्रह की मुख्य बात है सामने वाले

का विचार बदलना।[21] विनोबा के ही शब्दों में- यथार्थ सत्याग्रह का स्वरुप है स्वयं शुभ विचार करना, सामने वाले को ठीक-ठीक समझाकर वह उसके गले उतारना, उसके साथ विचार विनिमय करते हुए अपने विचार में कुछ दोष हो तो उसका संशोधन करना।[22] विनोबा का कहना है कि सत्याग्रह से एक दूसरे की बुद्धि के परदे खुल जाते हैं और वह विचार करने के लिए प्रेरित होता है।[23] विनोबा के अनुसार सत्याग्रह एक जीवन पद्धति तथा कार्य पद्धति भी है। यह एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसमें सम्पूर्ण जीवन का गठन सत्याग्रही निष्ठा पर करना पड़ता है, चाहे उसके लिए लाखों आपत्तियों का सामना क्यों न करना पड़े।[24] इस जीवन पद्धति और कार्य पद्धति में सत्याग्रही को यह भी भान नहीं होता कि उसे कष्ट सहन करना पड़ रहा है। वह तो सत्य के लिए कष्ट सहन करने में आनन्द अनुभव करता है। विनोबा यह मानते हैं कि सत्याग्रह से बढ़कर मुक्तिदायक कोई दूसरा शास्त्र नहीं है, परन्तु उनका यह भी विचार है कि सत्याग्रह की साधना निर्भयता के बिना नहीं हो सकती है। निर्भयता के लिए आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान के बिना सत्यनिष्ठा सम्भव ही नहीं है।[25] अत: इसे सत्याग्रह का आधार मानना चाहिए। विनोबा यह मानते हैं कि सत्याग्रह वास्तव में नित्यरुप से जीवन की पद्धति है और प्रासंगिक रुप से प्रतिकार की पद्धति है।[26] परन्तु इन दोनों में कोई विरोध नहीं, बल्कि एकरूपता है।

वस्तुत: विनोबा सत्याग्रह में प्रतिकार का निषेध नहीं कर उसे सूक्ष्म रूप में लेते हैं। विनोबा प्रतिकार के स्वरूप के आधार पर ही सत्याग्रह की प्रक्रिया का शास्त्र बनाते हैं। उनके अनुसार सत्याग्रह की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया से भिन्न व विपरीत है।[27] हिंसा की प्रक्रिया क्रमश: तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती है, जबकि सत्याग्रह की प्रक्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। यहाँ हम पहले सौम्य सत्याग्रह से प्रारम्भ करते है, उससे काम नहीं चलता तो हमारा सत्याग्रह सौम्यतर होता है और उससे भी काम नहीं चलता तो उसे सौम्यतम बनना पड़ता है।[28] अन्तरात्मा को जागृत करना सत्याग्रह की पद्धति है। अत: विनोबा के अनुसार सत्याग्रह की प्रक्रिया में हम स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में प्रवेश करते हैं। विनोवा के अनुसार गांधी की सत्याग्रह

प्रक्रिया विशेष परिस्थिति के कारण दबावपूर्ण और निषेधात्मक थी।[29] उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता है। आज युग बदल गया है, देश स्वतंत्र हो गया है, लोकतंत्र की स्थापना हुई तथा विज्ञान काफी आगे बढ़ चुका है। सभी सरकारें आज अधिक शक्तिशाली हो गयी हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में स्थूल, उग्र या तीव्र, सत्याग्रह के स्थान पर सत्याग्रह को सौम्य, सौम्यतर तथा सौम्यतम बनाना ही उसे अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली बनाना हैं।[30] विनोबा सत्याग्रह को अत्यधिक सात्विक, परिशुद्ध तथा प्रेममय बनाना चाहते थे। वस्तुतः विनोबा सत्याग्रह के रचनात्मक अंश पर ही विशेष बल देते हैं।

'सत्याग्रह' शब्द भले ही नवीन हो किन्तु यह जिस सिद्धान्त को व्यक्त करता है वह काल की भांति पुरातन है।[31] स्वयं गांधी जी ने इसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'सत्याग्रह का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं, यह गृह जीवन के नियम का राजनीतिक जीवन में प्रसार मात्र है।'[32] सामान्यतः पारिवारिक समस्याओं का समाधान अहिसा व प्रेमपूर्वक बातचीत व समझौते के माध्यम से कर लिया जाता है। इसमें वैमनस्य, प्रतिशोध, क्रोध का भाव नहीं होता। गांधी जी की दृष्टि में जब तक राजनैतिक मंच पर कुटुम्ब के इस कानून को निश्चित मान्यता एवं स्वीकृति प्राप्त नहीं होती तब तक राष्ट्र तत्त्वतः एक नहीं हो सकते और न उनके कार्य ही सम्पूर्ण मानवता के सामान्य हितों को बढ़ाने वाले हो सकते हैं। जिस सीमा तक राष्ट्र इस नियम का पालन करते हैं उसी सीमा तक उन्हें सभ्य कहा जा सकता है। गांधी के अनुसार यह समझना एक जबर्दस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही लाभदायक है, जनसमूह व राष्ट्र के लिए नहीं। वस्तुतः जितना वह व्यक्ति के लिए धर्म है, उतना ही राष्ट्रों के लिए भी धर्म है।[33]

ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि बुराई के बदले भलाई करने और घृणा को प्रेम से विजय करने का सिद्धान्त जो कि सत्याग्रह का मूल तत्त्व है, एक बहुत ही पुराना सिद्धान्त है। भगवान बुद्ध और ईसा मसीह ने इसका उपदेश दिया और इस पर आचरण किया। सुकरात ओर प्रह्लाद ने भी यही रास्ता अपनाया। इसका उल्लेख टॉल्स्टॉय, रस्किन तथा थोरियो सरीखे आधुनिक

विचारकों के लेखों में मिलता है जिनका गांधी जी पर बड़ा प्रभाव था। ऐसे में गाधी जी के विचारों के स्रोत का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत शोध प्रबन्ध विषय का एक अपरिहार्य अंग बन जाता है।

जहां तक गांधी जी के विचारों के स्रोत का प्रश्न है उन्होंने राजनीतिक विचारों का बहुत कम अध्ययन किया था। लेकिन जो कुछ उन्होंने पढ़ा वह अच्छी तरह आत्मसात कर लिया। भगवद्गीता आदि की उनकी व्याख्या अपने ही ढंग की थी। उन्होंने यह दावा किया कि देखने में तो गीता सत्य और धर्म के लिए हिसा का उपयोग करने की शिक्षा देती है। पर वह वास्तव में हिंसा की नहीं अहिंसा की शिक्षा देती है। क्योंकि गीता का कहना यह है कि यदि किसी को शस्त्र उठाना भी पड़े तो उसे निष्काम भाव से ऐसा करना चाहिए। 'मनुष्य को काम करने का अधिकार है उसे उसके परिणाम पर अधिकार नहीं' (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन)।[34] महात्मा गांधी ने इसका अर्थ लगाया था कि कोई भी मनुष्य निष्काम भाव से युद्ध नहीं कर सकता और इसलिए हिंसा की शिक्षा वास्तव में अहिसा की शिक्षा थी। अपने जीवन के बाद के वर्षो में गांधीजी ने किसी अन्य धार्मिक स्रोत की अपेक्षा गीता से सबसे अधिक प्रेरणा ली। वे गीता को 'आध्यात्मिक संदर्भ ग्रंथ' मानते थे। उन्होंने सत्य और अहिंसा के बारे में गीता से बहुत कुछ सीखा।[35] गीता के आलावा महात्मा गांधी ने पतंजलि का योग सूत्र, रामायण और महाभारत तथा कुछ जैन और बौद्ध धर्म की पुस्तकें पढ़ी थीं जो सत्य और अहिंसा के उपदेशों से भरी पड़ी हैं। किसी वस्तु को अपने पास न रखने अर्थात् अपरिग्रह में उनका पक्का विश्वास था, और इसकी प्रेरणा उन्होंने उपनिषदों से ली थी। उपनिषद की इस शिक्षा का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था जिसमें कहा गया है कि संसार को त्याग देना चाहिए और फिर इसे भगवान के उपहार स्वरूप स्वीकार करना चाहिए। इसके पीछे व्याकुल नहीं होना चाहिए।[36]

गांधी को प्रभावित करने वाले अभारतीय स्त्रोतो में से 'सर्मन ऑन द माउंट' (इसाईयों की धर्म पुस्तक बाइबिल में दी हुइ ईसा मसीह की शिक्षा) प्रमुख है। महात्मा गांधी का कहना था कि जब उन्होंने इसे पहले-पहल पढ़ा तो यह सीधे

उनके हृदय में स्थान पा गया। वे इस तरह की शिक्षाओं को कभी नहीं भूले, 'बुराई को अच्छाई से जीतना चाहिए' 'यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो' 'अपने शत्रुओं को भी प्यार करो' 'जो तुमसे घृणा करते हों उनके साथ नेकी करो' और 'जो तुम्हारे साथ अत्याचार करते हों उनके लिए तुम भगवान से प्रार्थना करो'। दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के मित्र रेवरेंड जे.जे. डोक का कहना है कि गाधीजी ने सत्याग्रह की प्रेरणा न्यू टेस्टामेंट से और विशेषकर 'सर्मन ऑन द माउंट' से ली थी।[37] अहिंसक प्रतिरोध का सर्वोच्च उदाहरण महात्मा गांधी को ईसा मसीह के इन अन्तिम शब्दों में मिला- 'भगवान, उन्हें क्षमा कीजिए क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं'।

गांधीजी के नैतिक और राजनीतिक विचारधारा पर चीन के लाओत्से और कन्फ्यूशियस की प्राचीन शिक्षाओं का भी कुछ प्रभाव पड़ा था। इन्हीं विचारकों का कहना था जो 'मेरे प्रति अच्छे हैं मैं उनके लिए अच्छा हूॅं, जो मेरे प्रति अच्छे नहीं हैं उनके प्रति भी मैं अच्छा हूँ। इस प्रकार सभी अच्छे होते जायेंगे। जो मेरे प्रति सच्चे हैं, मैं उनके लिए सच्चा हूॅं, जो मेरे प्रति सच्चे नहीं हैं मैं उनके लिए भी सच्चा हूँ और इस प्रकार सभी सच्चे होते जायेंगे।[38] महात्मा गांधी ने कन्फ्यूशियस से यह सिद्धान्त सीखा जिसके अनुसार मनुष्यों को दूसरे के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा व्यवहार वे स्वयं दूसरों के द्वारा अपने प्रति नहीं चाहते हों। यह ईसामसीह के इस स्वर्ण नियम का नकारात्मक रूप है कि दूसरों के प्रति वैसा वर्ताव करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें।[39] धर्मनिरपेक्ष लेखकों में से थोरो, रस्किन व टॉल्स्टॉय ने गांधी जी को सबसे अधिक प्रभावित किया। गांधीजी ने थोरो से सविनय अवज्ञा और करबन्दी की प्रेरणा पायी। थोरो के राजनीतिक विचार ये थे: जनहित करने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के साथ अधिकतम सहयोग और यदि वे अहित करें तो असहयोग। 1848 में अपनी पुस्तक 'एसे ऑन सिविल डिसोविडियंस' में थोरो ने यह स्पष्ट किया था कि उसने कर चुकाने से इन्कार कर जेल में रात क्यों बितायी थी?[40] गांधी जी ने रस्किन की पुस्तकें 'अन्टुदि लास्ट' और 'क्राउन आफ वाइल्ड ओलिब्स' से शारीरिक श्रम का आदर करना सीखा और

सर्वोदय का आदर्श प्रतिष्ठित किया। लियो टॉल्स्टॉय से गांधी जी को 'इसाई अराजकतावाद' की झलक मिली।[41]

महात्मा गांधी के सचिव और उनका जीवन चरित्र लिखने वाले प्यारेलाल इन विभिन्न सूत्रों के बारे में लिखते हुए कहते हैं कि 'भगवद्गीता, उपनिषद और ईसा मसीह के जीवन और शिक्षाओं ने गांधी जी और थोरो को समान रूप से प्रभावित किया है।[42] वह आगे कहते हैं 'जीवन के बारे में गांधी जी के समूचे दृष्टिकोण को टाल्स्टॉय ने बदल दिया। कला, धर्म, अर्थशास्त्र, पुरुषों और महिलाओं के आपसी सम्बन्ध तथा राजनीति के बारे में गांधी जी के विचारों पर टॉल्स्टॉय की गहरी छाप पडी थी।[43] गांधी जी के अहिंसक असहयोग के पूरे कार्यक्रम का आधार टॉल्स्टॉय का यह प्रसिद्ध वाक्य है- 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है।'[44] यद्यपि महात्मा गांधी ने इन पुस्तकों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया था फिर भी वे एक पद्धति निर्माता नहीं थे। इस सम्बन्ध में थोरो और गांधीजी की तुलना करते हुए प्यारेलाल कहते हैं कि इन विचारकों में से कोई भी पद्धति निर्माता नहीं था पर दोनों गम्भीर विचारक, सत्य की खोज करने वाले और सत्य-वक्ता थे। दोनों में सत्य के लिए प्रबल इच्छा थी और दोनों कार्यरूप में दर्शनशास्त्र का प्रतिनिधित्व करते थे।[45] इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध साहित्यकार व राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक "संस्कृति के चार अध्याय" के अन्तर्गत लिखा है कि "कहते है कि सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा की कल्पना अमेरिका के चिंतक थोरो ने भी की थी और इसकी थोड़ी बहुत झलक रूस के सन्त साहित्यकार टॉल्स्टॉय को भी मिल चुकी थी। गांधी जी थोरो और टॉल्स्टॉय दोनों के विचारों से परिचित थे। किन्तु थोरो, टॉल्स्टॉय अथवा एमर्सन और रोम्याँ रोलाँ में इस प्रकार की जब भी कोई भावना जगी, तब उसके पीछे भारतीय दर्शन की उत्तेजना काम कर रही थी। यह ठीक है कि थोरो और टॉल्स्टॉय ने सविनय अवज्ञा की कल्पना भारत के किसी बहुप्रचलित उपदेश को सुनकर नहीं की होगी, क्योंकि ऐसा कोई उपदेश राजनीति की भाषा में तब तक भारत में प्रचलित नहीं हुआ था। किन्तु सविनय अवज्ञा की कल्पना तक जाने का दर्शन इस दश में विद्यमान था और इस कल्पना तक वही व्यक्ति जा सकता था

जो या तो भारतीय विचारधारा से प्रभावित हो अथवा अनायास उस प्रकार की चिंतन पद्धति पर आ गया हो। जो भारत की पद्धति रही है। थोरो एवम् टॉल्स्टॉय के सन्दर्भ में दोनों ही विकल्प रहेंगे।[46] इस प्रकार दिनकर गांधी जी के विचारों का उत्स भारतीय दर्शन, चिंतन व संस्कृति में पाते हैं।

वस्तुत: अहिंसा की शिक्षा भारत के लिए पुरानी चीज है। केवल बौद्ध और जैन धर्मो में ही नहीं, अहिंसा की महिमा उनसे पूर्व उपनिषदों में भी गायी गयी थी। अहिंसा भारत की सभ्यता का सार है। वह हिन्दुओं का सनातन धर्म हैं। वह प्राग्वैदिक और आर्यो से पूर्व की उपलब्धि है। सच पूछिये तो अहिंसा का उपदेश भारत में इतने दिनों से दिया जा रहा है कि शेष विश्व भारत को अहिंसा और निवृत्ति का देश ही मान बैठा है।[47] किन्तु, इतना होते हुए भी, वर्तमान जगत् में अहिंसा के प्रवर्तक महात्मा गांधी माने जाते हैं। अहिसा को लेकर गांधी जी को संसार में जो सुयश प्राप्त हुआ, वह बुद्ध के सुयश से अधिक है, क्योंकि बुद्ध ने यद्यपि, अहिंसा का पालन स्वयं किया तथा शिष्यों से भी करवाया, किन्तु सन्तों को अहिंसा-व्रत के पालन में वही कठिनाई नहीं होती, जो गृहस्थ को होती है। फिर यह बात भी है कि व्यक्ति के लिए अहिंसा का पालन उतना दुस्साध्य नहीं होता, जितना समष्टि के लिए होता है। अहिसा परम धर्म के रूप में युगों से पूजित चली आ रही थी। किन्तु, गांधीजी से पूर्व किसी ने भी, समष्टि के धरातल पर अथवा कोटि-जन-व्यापी महाआन्दोलनों के भीतर से, अहिंसा का प्रयोग नहीं किया था। गांधी जी ने यह प्रयोग किया और उनके प्रयोग से संसार के असंख्य लोगों में यह आस्था उत्पन्न हुई कि अहिंसा की साधना सामूहिक कार्यो में भी चल सकती है।[48]

नि:सन्देह जिस सत्य एवं अहिंसा का गांधी जी ने उपदेश किया है, जो उनके सत्याग्रह का मूलाधार है, वह तत्त्वत: कोई नूतन वस्तु नहीं। जो चीज मानव एवं मानवेतर प्राणी जगत् में 'सूत्रे मणिगणा इव' समायी हुई है और समस्त मानव-संस्कृति का आधारभूत तत्व है उसमें नवीनता की बात ही क्या हो सकती है। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह असन्दिग्ध रुप से सिद्ध हो जाता है कि अनेकानेक मनीषियों ने इसको अवधारित किया था एवं बहुत से साहसी व्यक्तियों एवं समूहों ने प्रतिरोध की

पद्धति के रुप में इसका प्रयोग किया था तथापि महात्मा गांधी द्वारा अवधारित एवं प्रयुक्त अहिंसा निश्चित एवं स्पष्ट रुप से अभिनव, अद्वितीय एवं विलक्षण है।[49] अपने ग्रन्थ 'गांधी एण्ड लेनिन' में फ्रांसीसी विद्वान रेनेफुलोमुलर का कथन है कि महात्मा जी की विलक्षणता यह है कि इतिहास में पहली बार उन्होंने एक नैतिक बोध को एक व्यावहारिक प्रणाली का रूप दिया। गाधी के अनुसार अहिंसा धर्म केवल संतो एवं ऋषियों के लिए ही नहीं है वरन् यह सर्वसाधारण के लिए है। अहिंसा मानव जाति का धर्म है, जिस प्रकार हिंसा पशुओं का धर्म है।[50] यद्यपि अहिंसा तत्त्व को प्राचीन ऋषियों ने खोजा तथापि गांधी ने ही अपने जीवन में प्रयत्न करके आविष्कार किया कि 'हिंसा के समान अहिंसा का भी नानाविध उपयोग और विकास हो सकता है। यह एक बलवान शक्ति है और इसके गर्भ में अनेक प्रसुप्त और अनाविष्कृत विधाएं (प्रयुक्तियाँ) होनी चाहिए'।[51] वस्तुत: गांधी जी ने अहिंसा को मोक्ष प्राप्ति का ही साधन नहीं बताकर उसे सामाजिक शांति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय का भी साधन बतलाया है।[52] जिस भाति उन्होंने उसकी अमित शक्तियों की खोज की है और खोज करके जिस तरह सामाजिक स्तर पर, लक्ष-लक्ष जनों के जीवन की संघटित, अनुशासित ऊर्जा के रुप में उसे बदल दिया है, सामाजिक शक्ति के रुप में उसका प्रयोग किया है, वह बिल्कुल नया है। अन्याय, उत्पीड़न एवं विषमता के विरुद्ध समाज में अहिंसक स्थिति की स्थापना के लिए जिस प्रकार उन्होंने वृहत् मानव समूहों पर उसका प्रयोग किया है, वह नया है। यह नवीनता और मौलिकता ही शोध का विषय है।

वस्तुत: गांधी जी ने अहिंसा को व्यक्तिगत साधना के प्राचीन स्तर से उठाकर उसे समाजगत बना दिया है और इस प्रकार समस्त सामाजिक अनीति एवम् वैषम्य के जड से निराकरण का एक ऐसा मार्ग खोज निकाला है जो मानव प्रगति के इतिहास में अद्भुत है। इसने युद्ध की समस्त रचना, उसकी स्ट्रेटेजी को ही बदल दिया है और पुरानी संगठित हिंसा-विधियों को अनावश्यक बना दिया है। उन्होंने सामाजिक जीवन में अहिंसा की, साम्य स्थिति की स्थापना का ऐसा रास्ता हमें वताया है जो एक ओर व्यक्ति का संस्कार करता चलता है और दूसरी ओर स्वयं

उत्पीड़न या शरीर बल का प्रयोग किये बिना समूह का, समाज का संस्कार करके अन्याय का निराकरण करने की अद्‌भुत क्षमता रखता है।[53]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि न केवल 'सत्याग्रह' शब्द को विकसित करने वरन् इसे सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं वृहत्तर अवधारणा का रूप प्रदान करने तथा व्यापक पैमाने पर प्रयोग करने का श्रेय महात्मा गांधी को है। इस रूप में सत्याग्रह नवीन और मौलिक अवधारणा है तथा भारतवर्ष और उसके निमित्त सम्पूर्ण जगत् को गांधी की एक अपूर्व देन है। सत्याग्रह की अवधारणा में 'सत्य' और अहिंसा ही दो प्रमुख घटक हैं, अतएव 'सत्य' और 'अहिंसा' के स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण और इनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन आवश्यक है।

सत्य का अर्थ व स्वरूप- अब इस तथ्य पर विचार महत्वपूर्ण है कि आखिर सत्य क्या है? आखिर वह कौन-सी वस्तु है, जिसे खोजने का प्रयत्न गांधी अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में करते रहे और जिसको अनुभव करने के सम्बन्ध में उन्होंने आत्म-साक्षात्कार, परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन जैसी अनेक शब्दावलियों का प्रयोग किया है? स्पष्टत: वे सत्य के प्रत्यक्ष-ज्ञान मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे, वे सत्य को पहचानने, उसका साक्षात्कार करने, उसे जीवन में प्राप्त और प्रतिष्ठित करने के लिए अत्यधिक व्यग्र थे। वे संसार में सत्य का शासन, सत्ता और उसकी सम्भावना के विधान का शासन स्थापित करना चाहते थे। आरम्भ में गांधी जी ने कहा था कि परमात्मा ही सत्य है, किन्तु अन्तत: उन्होंने कहा कि सत्य ही परमात्मा है। क्योंकि ईश्वर की सत्ता से तो अनेक लोग इन्कार सकते हैं किन्तु किसी को सत्य से इन्कार करने का साहस नहीं हो सकता।[54]

गांधी सत्य की समग्रता में विश्वास करते थे। वे उस सत्य में विश्वास करते थे, जो सर्वातिशायी होने के साथ-ही-साथ उसकी युगपत् गतिशील अभिव्यक्ति भी है। चूँकि सत्य ने ही अपने को सृष्टि रूप में अभिव्यक्त किया है, अतएव इसका प्रश्न ही नहीं उठता कि सर्वातिशायी सत्ता उच्चतर है और उसकी अभिव्यक्ति निम्नतर। वस्तुत: मनुष्य अपनी सीमित शक्तियों से ही, केवल अमूर्त चिन्तन द्वारा ही नहीं, अपितु अभिव्यक्त सृष्टि और विशेषत: उसके सजीव प्राणियों के प्रति प्रेम तथा

निःस्वार्थ सेवा के माध्यम से सत्य और उसके साथ ऐक्य या तादात्म्य की उपलब्धि कर सकता है। ऐसी निःस्वार्थ सेवा के मार्ग में उसे हर तरह के बलिदान के लिए प्रस्तुत होना पड़ेगा, यहाँ तक कि उसे मृत्यु का भी सहर्ष स्वागत करना पड़ सकता है। सत्य की दिशा में यह उसका अन्तिम कार्य होगा। गांधी के लिए सत्य के साक्षात्कार का यही मार्ग है, कोई दूसरा मार्ग हो ही नहीं सकता।[55] उन्होंने अपनी संपूर्ण चेतना से इस तथ्य की आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त की थी और इसका साक्षात्कार किया था कि समग्र जीवन मूलतः एक ही है और वह सत्य की ही अभिव्यक्ति है। उनका मानववाद इसी अनुभूति में निहित था। सत्य के साथ ऐक्य, व्यष्टि द्वारा समष्टि की एकता का साक्षात्कार ही उनके जीवन का सार-तत्त्व था। और यही चरम उपलब्धि तथा सर्वोच्च आनन्द तथा आह्लाद का भी स्रोत था।[56]

अब प्रश्न यह उठता है कि गांधी के लिए प्रतिदिन के जीवन में इन सारी बातों का ठोस रूप से क्या अर्थ होता है? उनके विचार से यद्यपि सर्वातिशायी सत्य का अनुभव व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा में करता है, किन्तु अभिव्यक्त सत्य और मुख्यतः सजीव प्राणियों, मनुष्य में अभिव्यक्त होनेवाले सत्य का अनुभव उस प्रेम द्वारा ही हो सकता है, जो सत्ता और स्वार्थो के ऐक्यानुभव का ही दूसरा नाम है। इस तादात्म्य को सजीव प्राणियों मनुष्य के साथ प्रेम के आधार पर प्रतिष्ठित सम्बन्ध में ही व्यक्त किया जा सकता है। सत्यान्वेषण में मनुष्य को कम-से-कम मनसा-वाचा-कर्मणा सजीव प्राणियों और मानव के प्रति हिंसा का त्याग करना चाहिए। किन्तु प्रेम अथवा अहिंसा का सर्वोच्च रूप निःस्वार्थ सेवा और आवश्यकता पड़ने पर आत्मबलिदान में ही दिखायी देता है। इसका अर्थ यह होता है कि प्रेम में, जो स्वार्थो का एकत्वबोध ही है, मनुष्य अपने लिए जो कुछ कर सकता है, उसे उससे कहीं अधिक दूसरों के लिए करना पड़ता है। मनुष्य जिसे प्रेम करता है उसके लिए आवश्यक होने पर प्राण त्याग भी कर सकता है, जो वह केवल अपने सम्मान रक्षा के लिए ही कर सकता, अन्यथा नहीं।[57]

यह ठीक है कि गांधी के लिए सत्य का सर्वातिशायी रूप आन्तरिक अनुभूति का विषय था, किन्तु उनके लिए अनुदिन के जीवन में इसका साक्षात्कार करना

सर्वाधिक तात्कालिक महत्व का विषय था। इसीलिए अपने प्रत्यक्ष ज्ञान, पर्यवेक्षण और चिन्तन द्वारा दैनिक जीवन में सत्य का अनुभव उनकी सतत् साधना का लक्ष्य बन गया था। व्यक्ति सत्य की समग्रता (सर्वातिशायी और व्यापक सत्य) का अनुभव सामाजिक जीवन और दूसरों के साथ अपने सम्बन्ध के अतिरिक्त और किसी रूप में कर ही नहीं सकता। इसीलिए दक्षिण भारत में श्रमिकों के कष्ट का सवाल हो, केरा के किसानों के उत्पीड़न का सवाल हो अथवा किसी एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर गुलामी लादने की अपमानजनक स्थिति का प्रश्न, गांधी जी हर मामले में उत्पीड़न मानवता के सेवार्थ अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने के लिए अनुप्रेरित हो उठते थे।[58]

गांधी ने निखिल मानवता के साथ, उसके सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा और आन्तरिक प्रेरणाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि प्रेम द्वारा ही वे उसकी सेवा कर सकते हैं। किन्तु, यदि रास्ते में कठिनाइयाँ आ जायें तो क्या किया जाय? वैसी हालत में क्या किया जाय, जब स्थिति विशेष के सत्य को दूसरे लोग उस रूप में नहीं समझ पाते हैं, जिस रूप में उन्हें उसका अनुभव हो रहा है? ऐसी स्थिति में गांधी का यही कहना था कि मैं समस्त विरोधों के बावजूद जिस सत्य का अनुभव कर रहा हूँ, उसे प्रतिष्ठित करके दिखाऊँगा। सत्य का उन्होंने जिस रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया था, उसके लिए हर प्रकार की कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष करने की उनकी यह सकारात्मक अभिवृत्ति ही उन्हें एक महान् नैतिक प्रतिभासम्पन्न, व्यवहारिक महापुरुष के रूप में दूसरों से अलग करती है। जबकि दूसरे लोग सत्य की जानकारी प्राप्त कर लेने और उत्पीड़ितों के प्रति सहानुभूति दिखा देने से ही सन्तोष कर लेते थे, गांधीजी संघर्ष में कूद पड़ते थे और विरोधी शक्तियों के बीच इस मसले को सक्रिय रूप से सुलझाने में संलग्न हो जाते थे।[59]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गांधी जी ने सत्य को अत्यन्त व्यापक अर्थो में ग्रहण किया था। यों तो 'सत्य' का आग्रह रखना, सत्य पर डटे रहना 'सत्याग्रह' है। किन्तु 'सत्याग्रह' में सत्य तीन अर्थो में ग्रहण किया गया है- तत्त्व, तथ्य और

वृत्ति।[60] तत्व रुप में वह आत्मा है, तथ्य रुप में वह सर्वोच्च जीवन सिद्धान्त है और वृत्ति रूप में महान गुण है। आत्मा के रुप में वह अनुभव करने की वस्तु है, सिद्धान्त के रूप में पालन करने की और वृत्ति या गुण के रूप में ग्रहण करने या बढ़ाने की वस्तु है।[61] सत्य तत्त्व के अर्थ में सृष्टि का आधार है, परन्तु सिद्धान्त और गुण के अर्थ में सामाजिक नियम है। इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से सत्य के दो भाग हो जाते हैं- एक स्वतंत्र सत्य और दूसरा सामाजिक सत्य। सामाजिक सत्य स्वतंत्र सत्य का साधक है।[62]

सत्याग्रही को सत्य के सन्दर्भ में सर्वप्रथम यह जानना पड़ता है कि किसी बात या घटना में सत्य क्या है? अर्थात् तथ्य, न्याय और औचित्य क्या है? सत्य को जानने के पश्चात् वह उस पर दृढ़ रहने का संकल्प करता है। जब हम यह निश्चय करते हैं कि मैं तो सत्य पर ही अटल रहूँगा, जो मुझे सच दिखायी देगा उसी को मानूँगा, तब मैं सिद्धान्त के रूप में सत्य को मानता हूँ।[63] इस सकल्प या व्यवहार में सत्याग्रही को सच्चा-शुद्ध रहने की परम आवश्यकता है। जब हम यह कहते हैं कि मैं अपने जीवन को छल-कपट एवम् स्वार्थ से रहित बनाऊँगा तो एक गुण या वृत्ति के रुप में सत्य को मानते हैं।[64] उपरोक्त दोनों आरम्भिक क्रियायें इसलिए करनी पड़ती हैं कि वह अंतिम तत्त्व के रूप में सत्य अर्थात् आत्मतत्त्व का अनुभव करना चाहता है। इस प्रकार एक सत्याग्रही का ध्येय हुआ जगत् के साथ अपने को मिला देना। उसकी प्रथम सीढ़ी हुई सत्य का निर्णय करना, दूसरी सीढ़ी हुई उस पर दृढ़ रहना और तीसरी सीढ़ी हुई अपने व्यवहार में सच्चा एवं शुद्ध रहना।[65]

अब प्रश्न उठता है कि सत्य का स्वरूप क्या है? अर्थात् सत्य स्थित्यात्मक है या गत्यात्मक? गांधी जी की दृष्टि में सत्य स्थिर एवं अपरिवर्तनीय है। यह कभी नष्ट नहीं किया जा सकता।[66] साथ ही गांधी जी का यह स्पष्ट विश्वास भी था कि हम इस क्षणभंगुर शरीर के माध्यम से शाश्वत सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकते।[67] स्पष्ट है कि सत्य की व्यापकता, पूर्णता और घनता न तो बुद्धिगम्य है और न ही वर्णन साध्य। वह तो मानवता का चिरंतन शाश्वत और सनातन मूल्य

है।[68] गांधी जी के अनुसार पूर्ण सत्य की ओर अभिगमन करने हेतु हमें सापेक्ष सत्य का अर्थात् जिसे हम सत्य समझते हैं, उसका पालन करना चाहिए।[69] यह कहा जा सकता है कि व्यवहार में जो कुछ मुझे आज जैसा धर्म, न्याय और योग्य प्रतीत होता है, वह 'सत्य' एवम् उसका अविश्रान्त अन्वेषण तथा तदानुसार आचरण ही सत्याग्रह है, जो सत्य के साक्षात्कार का साधन मार्ग है। उनका कथन है- "जब तक मैं पूर्ण सत्य की उपलब्धि नहीं कर लेता, तब तक मुझे अपनी धारणा के अनुरूप सापेक्ष सत्य का अवश्यमेव पालन करना चाहिए। अन्वर्तीकाल के लिए उस सापेक्ष सत्य को ही मेरा कवच एवम् रक्षक होना चाहिए।[70] इसका यह अर्थ हुआ कि गांधी दर्शन में सत्य स्थित्यात्मक एवं पूर्ण है, किन्तु इसका बोध गत्यात्मक एवं उपलब्धि आंशिक है। सत्य की उपलब्धि के लिए गांधीजी ने अन्त:प्रज्ञा द्वारा सत्याग्रह की प्रविधि का अन्वेषण किया"।[71]

अहिंसा का अर्थ व स्वरूप- अच्छे उद्देश्यों के लिए संघर्ष करने वाले दूसरे लोगों से गाधीजी को अलग करने वाला दूसरा प्रमुख तत्त्व अहिसा थी। वे इस पर सबसे अधिक जोर देते थे कि अन्याय, शोषण और निरंकुशता के विरुद्ध जमकर लड़ाई लड़नी चाहिए, किन्तु हर हालत में हमारे शस्त्र विशुद्ध, नैतिक और अहिंसक हों। उनका कहना था कि स्थिति विशेष से हमें जो प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव हो रहा है, वह हमारे लिए पूर्णत: सत्य हो सकता है, किन्तु हर हालत में दूसरों के लिए भी वह वैसा ही होगा, इसका साक्ष्य नहीं दिया जा सकता। अतएव यदि विरोधियों को अपना सत्यानुभव मनवा लेने का सवाल है तो हमेशा अहिसक साधनों का ही अवलम्बन करना चाहिए।[72] किसी भी मनुष्य को किसी भी ऐसी चीज को, जिसमें उसका अपना विश्वास हो, फिर चाहे वह उसके द्वारा साक्षात्कृत और मान्य सत्य ही क्यों न हो, दूसरों पर बलात्-हिंसा अथवा पशु-बल से लादने का कोई अधिकार नहीं है। इसीलिए उन्होंने उच्चस्वर से घोषित किया कि हिसा जगल का कानून है और अहिंसा हमारी अपनी मानव-जाति का कानून है। जीवन की सभी समस्याओं पर वे विचारों के आदान-प्रदान का मार्ग प्रशम्त करते थे, जिसस सत्य तक पहुँचा जा सके और यह मालूम किया जा सके कि मानव-मात्र का समान

लक्ष्य क्या हो सकता है। इस प्रकार उनकी अहिंसा या प्रेम के दो प्रमुख आधार थे–समग्र जीवन के साथ तादात्म्यबोध और सत्य को भी हिंसा द्वारा दूसरों पर लादने की दृढ़ अस्वीकृति। वह दूसरा आधार ही उनके स्वेच्छापूर्वक कष्ट–सहन के सिद्धान्त के मूल में था।[73]

अब हमें देखना है कि अहिंसा का ठीक–ठीक अर्थ व स्वरूप क्या है? अहिंसा की साधारण और आरम्भिक व्याख्या यह हो सकती है कि किसी को भी अपने वचन, कर्म द्वारा दु:ख न पहुँचाना। वस्तुत: अहिंसा निष्क्रिय पक्ष में किसी को दु:ख न पहुँचाने और सक्रिय पक्ष में प्रत्येक के साथ प्रेम करने की भावना या वृत्ति का नाम है।[74] गांधी जी अहिंसा को परम धर्म (अहिंसा परमोधर्म:) मानते हुए इसके प्रतिषेधक और विधायक दोनों अर्थो को महत्व देते थे। उनका कहना है– 'यह अहिंसा किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। मिथ्या भाषण, व द्वेष हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिसा है।[75] वौद्ध दर्शन में जो स्थान करुणा का है अथवा वैष्णव दर्शन में जो अर्थ दया का है, वही अहिंसा का सार है। इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का परिपूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।[76] अपनी गतिशील अवस्था में इसका अर्थ है अन्त:सम्मत पीड़ा सहन।[77] गांधी के अनुसार अहिंसा मानव जाति का धर्म तथा यह कायरता के लिए आवरण नहीं है, यह वीर का सर्वोत्कृष्ट गुण है।[78] वस्तुत: निष्क्रिय, स्त्रैण और निरुपाय समर्पण की तुलना में प्रतिशोध कहीं अच्छा है।[79] गांधी जी का यह स्पष्ट मत था कि जहां सारा चुनाव केवल कायरता और हिंसा के बीच सीमित हो, वहा मैं हिंसा का समर्थन करूँगा।

अहिंसा के उपयोग में प्रेम के महत्व के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का मत है कि 'प्रेम कभी कोई मांग नहीं करता, वह हमेशा देता है। प्रेम हमेशा कष्ट उठाता है, वह कभी बदला नहीं लेता'। वे आगे कहते हैं कि 'अहिंसा का आधार सत्य है और उसका अस्त्र प्रेम।'[80] अर्थात् सत्य आधार भूत सिद्धान्त है तो प्रेम वह साधन है जिसके द्वारा सत्य की अनुभूति की जाती है। गांधीजी का विश्वास था कि बुराई करने वाले से घृणा किये बिना बुराई से घृणा की जा सकती है। अंग्रेजों से

अपने सम्बन्धों में उन्होंने एक से अधिक अवसर पर स्पष्ट तौर पर यह कर दिखाया। गांधीजी के शब्दों में, 'यदि मेरा प्रेम सच्चा है तो मुझें अंग्रेजों मे विश्वास न रखते हुए भी उनसे प्रेम करना चाहिए।' एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था 'मै ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ रहा हूँ। लेकिन मै अंग्रेज से नहीं लड़ रहा हूँ। मेरी लड़ाई अंग्रेज या किसी अन्य व्यक्ति से नहीं है। वे मेरे मित्र हैं, लेकिन मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अवश्य लड़ूंगा।'[81] वस्तुत: जिस प्रकार, अरविन्द ने मनुष्य की शक्तियों एवं उसके स्वभाव को विकसित करके उसे अति-मनुष्य बनाने की कल्पना की है, कुछ वैसी ही कल्पना महात्मा गांधी में भी थी और उनका भी विचार था कि मनुष्य का वैयक्तिक एवं सामूहिक उद्धार इस बात में है कि वह अपने भीतर की पशुता को बिल्कुल छोड़ कर उन गुणों की वृद्धि करे, जो उसे पशु से भिन्न करने वाले हैं। उनका प्रयास मनुष्य की भूलों के प्रक्षालन का प्रयास था। उनका उद्देश्य मनुष्य को इस प्रकार रूपान्तरित कर देना था कि वह किसी भी बात में पशुओं का भागीदार न रहे। उनका यह क्रान्तिकारी उद्देश्य अहिंसा के प्रयोग में जितना निखरा, उतना और कहीं नहीं। अहिंसा, यह शब्द ही गांधी-धर्म का निचोड़ है तथा हिंसा से पूरित विश्व में यह एक शब्द गांधीजी का जितना व्यापक प्रतिनिधित्व करता है, उतना उनके और सारे उपदेश मिलकर भी नहीं कर पाते और यह ठीक है, क्योंकि गांधीजी की अहिंसा केवल अनाघात का ही पर्याय नहीं है, प्रत्युत, वह जीवों के प्रति आन्तरिक भक्ति और प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है।[82]

इसी सन्दर्भ में इस महत्वपूर्ण प्रश्न का अन्वेषण भी आवश्यक है कि गांधीजी ने अहिंसा का आश्रय क्यों लिया? इसलिए कि अंग्ररेजों के विरुद्ध हिंसा का आश्रय लेकर वे भारत को स्वाधीन नहीं कर सकते थें? अथवा इसलिए कि मानव-समाज को वे यह शिक्षा देना चाहते थे कि मनुष्य जब तक पाशविक साधनों का प्रयोग करने को बाध्य है, तब तक वह पूरा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता? पहली बात अहिंसा को किंकर्त्तव्यविमूढ़ एवं निरुपाय व्यक्ति का साधन बताती है, जिसका अर्थ यह होता है कि तोपें जब हमारे पास नहीं है, तब सत्याग्रह ही सही। किन्तु, दूसरी बात अहिंसा को मनुष्य के विकास का साधन बनाती है, उसके रूप

को निर्मल बनाने का उपाय सिद्ध करती हैं।[83] यह सच है कि गाँधीजी के नेतृत्व में जब भारतवासी ब्रिटेन से संघर्ष कर रहे थे, तब उनमें से अधिकांश का यही भाव था कि अहिंसा साधन भर है, जिसका अवलम्ब हमने इसलिए लिया है कि हिंसक साधनों से अँगरेजों का सामना करने की हमें सुविधा और सुयोग नहीं है। किन्तु स्वयं गांधी जी इस विचार को नहीं मानते थे। अहिंसा को गँवाकर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे। भारतीय स्वाधीनता बहुत बड़ा लक्ष्य थी, किन्तु उससे भी बड़ा ध्येय मानव-स्वभाव में परिवर्तन लाना था, मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन ध्येयों की प्राप्ति के लिए वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं।[84] गांधीजी का मुख्य उद्देश्य अपने देशवासियों के कष्टों का निवारण नहीं, प्रत्युत, मनुष्य के पाशवीकरण का अवरोध था। घृणा, क्रोध और आवेश, ये पशुओं को भी होते हैं और वे भी अपने प्रतिपक्षी का सामना उन शस्त्रों से करते हैं, जो प्रकृति की ओर से उन्हें मिले हुए हैं। लेकिन मनुष्य पशु से भिन्न है, अतएव उचित है कि वह अपने आवेगों पर नियंत्रण लगाये और अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के सुलझाने में उन उपायों से काम ले, जो पशुओं के लिए दुर्लभ, किन्तु, मनुष्य के लिए सुलभ है।[85]

अहिंसा के स्वरूप की विवेचन में इस तथ्य का भी विश्लेषण आवश्यक है कि क्या गांधीजी की अहिंसा असीम और परमपूर्ण है या नहीं? वस्तुतः उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि सम्पूर्ण अहिंसा किसी भी जीवित प्राणी के लिए असम्भव है, क्योंकि किसी भी छोटे से छोटे प्राणी में श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया भी उसके विनाश का ही द्योतक है।[86] गांधी जी का कहना था कि जो लोग अहिंसा पर निर्भर नहीं रह सकते हैं वे अपनी शक्ति का उपयोग कर सकते है। राष्ट्रों में होने वाले संघर्ष में भी गांधीजी हमेशा निष्क्रिय प्रतिरोध की शिक्षा नहीं देते थे। 1931-1945 की अवधि में जब जापान ने चीन मं निर्दय युद्ध छेड़ रखा था, गांधीजी के विचार से यह उचित ही था कि चीन जापान के विरुद्ध हथियार उठाये। उनकी ऐसी ही राय पोलैंड के बारे में भी थी जब 1939 में जर्मनी ने पोलैण्ड पर

आक्रमण किया था। ऐसी हालतों में भौतिक प्रतिरोध को गांधीजी अहिंसा के निकटतम मानते थे। साथ ही उन्होंने अहिंसा को काम निकालने का साधन नही माना। उन्होंने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि सत्याग्रही को अहिंसा का पालन मन, वचन और कर्म से करना चाहिए।[87] इसी प्रकार के कुछ और दृष्टान्त हैं। खास तौर पर विदेशी आक्रमण होने पर देश की सीमाओं की रक्षा के समय, जैसा कि उदाहरण के लिए आजादी के तुरन्त बाद भारत को पाकिस्तान के हमले का सामना करना पड़ा था।[88] एक और स्पष्ट प्रमाण है देश-विभाजन के समय का। उस समय गांधी जी ने कहा था कि "मैं इस देश का विभाजन स्वीकार करने के बजाय खून की नदियॉ बहने देना ज्यादा पसन्द करूँगा।[89] वस्तुतः यह कायरता और हिंसा में से एक को चुनना था, जिसके बारे में गांधीजी ने अपने विचार निश्चयपूर्वक कहे थे। विभाजन को स्वीकार करना गांधी जी के लिए राष्ट्रीय कायरता का कृत्य था। इसके आलावा जैसा कि हम जानते हैं विभाजन से किसी भी समस्या का हल नहीं निकला और खून की नदियाँ भी बहीं। असल में विभाजन ने सच्ची आजादी हासिल करने की उस प्रक्रिया को ही खत्म कर दिया, जिसे शुरू करने और व्यापक बनाने में गाधीजी ने काफी कुछ किया था।[90] इस सन्दर्भ में जयदेव सेठी का मत है कि गांधीजी का सिर्फ यही विश्वास नहीं था कि अहिंसा का तरीका बेहतर तरीका है बल्कि वह भारत में हिंसात्मक क्रान्ति के होने के रास्ते में आने वाली दिक्कतों को भी जानते थे।[91] यहां यह ध्यातव्य है कि गांधीजी की अहिंसा क्रोधी द्वेषी या असत्य-सेवी व्यक्ति की अहिंसा नहीं है। इसलिए वे जीवन भर में एक बार भी उन लोगों से सहमत नहीं हो सके, जो अहिंसा को सिद्धान्त नहीं मानकर केवल नीति मानते थे। अहिंसा को गाँधी जी ने उपयोगिता के लोभ में आकर ग्रहण नहीं किया था, प्रत्युत, इस भाव से कि वह मनुष्य का एकमात्र धर्म है, जैसे हिसा पशुओं का स्वाभाविक धर्म समझी जाती हैं। पशुओं की तरह बात-बात पर हूल मारना मनुष्य का धर्म नहीं हो सकता। उसकी गरिमा इस बात में है कि वह अपने ऊपर ऊँची नैतिकता का नियन्त्रण स्वीकार करे, जिसका पशुओं को ज्ञान भी नहीं है। अंग्रेजो के विरुद्ध अपने संघर्ष में वे पशु और मनुष्य के संघर्ष का रूपक देखते

थे। "अंग्रेज हमारे संघर्ष को बन्दूकों के धरातल पर ले आना चाहते हैं, क्योंकि बन्दूकें उनके पास हैं, जिन्हें वे चला सकते हैं। किन्तु, हम तो उसी धरातल पर डट कर लड़ेंगे, जिस धरातल के शस्त्र हमारे पास हैं और अँगरेजों के पास नहीं हैं।"[92]

सत्य और अहिंसा का सम्बन्ध– सत्याग्रह के मूलाधार सत्य एवम् अहिंसा के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् इनके पारस्परिक सम्बन्धों का भी विश्लेषण अपरिहार्य हो जाता है। वस्तुतः गांधीजी के भाषणों और लेखों में इन दो शब्दों का असख्य बार प्रयोग हुआ है और इन पर न जाने कितनी बार उन्होंने अपनी टिप्पणियॉ दी हैं। इन दो शब्दों के जिन अर्थो का उन्होंने उद्घाटन किया है और इनकी जो व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है, उसने इन्हें नये आयाम प्रदान कर दिये हैं। ये दोनों शब्द इनके जीवन और दर्शन के मन्त्र थे। इसमें सन्देह नहीं कि इन दो शब्दों में भी सत्य को ही गांधीजी ने प्रमुखता दी है।[93] वे सत्य के मात्र अविश्रान्त अन्वेषक ही नहीं थे वे उसके आराधक भी थे। उन्होंने अपने जीवन को ही 'सत्य के साथ किये गये प्रयोगों' का एक क्रम कहा है। इस कथन से उन्होंने सत्य के सम्बन्ध में अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही व्यक्त किया है। उन्होंने कभी यह दावा नहीं किया कि उन्होंने सत्य को पा लिया है। उन्होंने विनम्रतापूर्वक यही कहा है कि मैं बराबर सत्य की खोज में लगा हुआ हूँ। उनके लिए सत्य वह आदर्श था, जिसके लिए सतत् साधना अपेक्षित होती है। इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को बराबर प्रयत्नशील रहना चाहिए, यद्यपि वह असीम होने के कारण हमारी पहुंच से बाहर होता जाता है।[94]

वस्तुतः गांधीजी के जीवन, चिन्तन और कर्म पर विचार करने से सत्य और अहिंसा के अविच्छेद और महत्वपूर्ण सम्बन्ध सूत्र का पता चल जाता है। आर.आर. दिवाकर ने इस सम्बन्ध सूत्र को इस कथन से प्रकट किया है कि 'गांधी के लिए सत्य का मार्ग अहिंसा के माध्यम से था।'[95] अतएव यही कहना सबसे सही होगा कि गांधी का लक्ष्य और प्रयत्न अहिसा द्वारा सत्य की प्राप्ति ही थी और अध्ययन करने से पता चलता है कि सत्य की आर जाने वाला सर्वोत्तम और मरलतम मार्ग

अहिंसा ही है। यही नहीं, गांधी के लिए अहिंसा सत्य का सर्वोत्तम मार्ग ही नहीं, अपितु एकमात्र मार्ग है।[96] अतएव यह कहा जा सकात है कि गांधी के लिए सत्य और अहिंसा का सम्बन्ध-सूत्र तथा उनके जीवन और अनुशासन को अनुप्रेरित करने वाला उनका मौलिक दृष्टिकोण इस वाक्य में निहित है कि "अहिंसा ही सत्य की उपलब्धि का एकमात्र माध्यम है।" अपने इस एकान्तिक दृष्टिकोण के कारण ही गांधी का स्थान सत्य के अन्य साधको में निराला है।[97]

सत्य और अहिंसा के पारस्परिक सम्बन्धों को अन्य दृष्टियों से भी समझा जा सकता है। सत्यशोधन में प्रगति करने के लिए अन्तःकरण की निर्मलता और बुद्धि की सात्विकता का दिन प्रतिदिन बढ़ना अनिवार्य है। किन्तु अन्तःकरण को निर्मल और बुद्धि को सात्विक हम तभी बना सकते है जब हम अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठायेंगे। और राग-द्वेष से ऊपर उठना अहिंसा का ही दूसरा नाम है।[98] इस प्रकार सत्य के साथ अहिंसा अपने आप जुड़ी हुई है। गाधीजी की उक्ति है "अहिंसा के बिना सत्य खोजना एवं पाना सम्भव नहीं है। अहिसा और सत्य एक दूसरे से इस प्रकार गुथें हुए हैं कि उन्हें एक दूसरे से छुड़ाकर अलग करना व्यवहारतः असम्भव है। वे एक सिक्के के या यों कहा जाय कि एक चिकनी अचिन्हित धातु की चकती के दो पहलुओं के समान हैं। कौन कह सकता है कि कौन सा सीधा और कौन सा उल्टा पहलू है"।[99] निर्मल कुमार बसु के अनुसार सत्य प्रमेय है और उसको प्राप्त करने का साधन अहिंसा है।

दूसरे, यह अहिसा सत्य का ही दूसरा रूप है। मनुष्य गलतियाँ इसलिए करता है कि वह अज्ञान की अवस्था में है। अज्ञान से ज्ञान अथवा सत्य तक जाने के लिए विवेक चाहिए, तर्क और विचार चाहिए तथा इसके लिए उस बुद्धि की भी आवश्यकता है जो पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं है, जो अन्धी हीकर अपने ही पक्ष का प्रमाण खोजना नहीं चाहती, जो उस निष्कर्ष का भी स्वागत करने को तैयार है, जो उसके विपक्ष में पड़नेवाला है। ऐसी बुद्धि उसी व्यक्ति की हो सकती है, जो आत्म-शुद्धि और आत्म-विश्लेषण की योग्यता से युक्त है। जिसमें नैतिक बल का अभाव है, वह सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकता। विचारों क स्वच्छ हो जाने पर

सत्य का प्रेम प्रकट होता है। और जब विचार सत्यवादी हो जाते हैं, तब मनुष्य की वाणी और क्रिया भी सत्यवादिनी हो उठती है। जिस मनुष्य में निखिल मानवता के लिए हार्दिक प्रेम नहीं होगा, उसके विचार, वाणी और कार्य, सत्य से परिचालित नहीं होंगें। मनुष्य सत्य इसलिए बोलता है कि अन्य मनुष्यों के प्रति उसमें आदर और प्रेम है। किसी से प्रेम भी करना तथा वाणी और क्रिया के द्वारा धोखा भी देना, ये परस्पर विरोधी बातें हैं। जहां प्रेम है, सत्य वहीं निवास करता है तथा जहां प्रेम और सत्य रहते हैं, वहां क्रिया, निश्चित रूप से अहिंसामय हो जाती है।[100]

वस्तुत: सत्य जब तक स्वतंत्र है तब तक 'सत्य' है- परन्तु जब वह सामाजिक बनने लगता है तब अहिसा का रुप धारण करने लगता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर किया जाता है तो वह वहाँ जाकर अहिंसा बन जाता है।[101] अहिंसा का मूल्य सत्य पर स्थित है, किन्तु उसका स्वरूप प्रेममय है। अहिंसा सिर्फ इतना ही नहीं है कि दूसरे को कष्ट न पहुँचाओं वरन् दूसरे के दु:ख को अपना दु:ख समझो' तथा 'दूसरे को अपने समान चाहो' भी है।[102] इस प्रकार स्पष्ट है कि अहिंसा का ही दूसरा नाम प्रेम, सहयोग और न्याय की भावना है। यह निर्विवाद है कि वही समाज-व्यवस्था और समाज-रचना मानव जाति के लिए सुख, शान्ति और स्वतंत्रता देने वाली हो सकती है जिसमें सब परस्पर प्रेम, सहयोग और न्याय का व्यवहार करें। इन गुणों की वृद्धि के लिए अहिंसा-वृत्ति का विकास होना जरूरी है। गांधी जी के शब्दों में- "अहिंसा मेरे विश्वास का प्रथम एवं अन्तिम अन्तर्नियम है। यह मेरे पंथ का भी अन्तिम अन्तर्नियम है।"[103] अन्तत: यह कहा जा सकता है कि सत्य और अहिंसा के मेल से निर्मित सत्याग्रह में एक तरफ सत्य का अमित तेज, बल, पराक्रम, पौरुष, साहस और दूसरी ओर अहिंसा की परम आर्द्रता, मृदुल मधुरता, विनयशीलता, स्निग्धता, सुजनता है। जहां सत्य मनुष्य को सरल, न्यायी, निर्मल, दूसरों को हानि न पहुँचाने वाला और सदाचारी बनाता है, वहीं अहिंसा दूसरों की ओर से होने वाली बुराईयों, दोषों और ज्यादतियों को रोकने और सहन करने का बल देती है। मनुष्य जब तक एक ओर खुद कोई बुराई नहीं करेगा और दूसरी ओर बुराई करने वाले से बदला लेने का भाव नहीं रखेगा तब तक स्वराज्य अथवा रामराज्य

की स्थापना नहीं हो सकती। पहली बात समाज में सत्याचरण से और दूसरी अहिंसा के अवलम्बन द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि गांधी ने अपने प्रयोगों को– 'अहिंसा के एक मात्र माध्यम से सत्य की प्रतिष्ठा'– उदाहरण स्वरूप में प्रस्तुत करते हुए इन्हीं दिशाओं में सत्यं और अहिंसा को नये आयाम दिये है।[104]

सत्य और अहिंसा के अर्थ, स्वरूप, व पारस्परिक सम्बन्धों के विवेचन के पश्चात् अब इस तथ्य का विश्लेषण आवश्यक है कि सत्याग्रह का सम्पूर्ण दर्शन किन सिद्धान्तों पर आधारित है। वस्तुतः गौतमबुद्ध के चार आर्य सत्यों की भांति, सत्याग्रह के भी चार मूल सिद्धान्त हैं जिन पर सत्याग्रह का सम्पूर्ण दर्शन आधारित है।[105] ये चार सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. यह निर्विवाद सत्य है, कि संसार में शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि अनेक बुराईयाँ हैं।
2. इन सभी बुराइयों का निराकरण बहुत आवश्यक है, क्योंकि इन्हें समाप्त किये बिना विश्व में सुख और शांति की कल्पना नहीं की जा सकती।
3. ये बुराइयाँ युद्ध तथा अन्य हिंसात्मक उपाय से कभी समाप्त नहीं हो सकती क्योंकि हिंसा और युद्ध से और अधिक सघर्ष का तथा घृणा और प्रतिशोध का ही जन्म होता है।
4. केवल आत्मपीड़न तथा अन्य अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही संसार से अन्याय, शोषण, अत्याचार आदि बुराइयों का अन्त किया जा सकता है।

अब उन मान्यताओं व आधारों का विवेचन आवश्यक है जिन पर सत्याग्रह का सिद्धान्त आधारित है जिसका विश्वास और परिपालन सत्याग्रही के लिए अनिवार्य है। मार्च 1931 के हरिजन बन्धु में गांधी जी ने एक लेख में सत्याग्रही के लिए कुछ आधारभूत योग्यताओं व शर्तो का उल्लेख किया हे।[106] वस्तुतः सत्याग्रह सिद्धान्त निम्नलिखित दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित है जिन्हं माट तौर पर तात्विक, नैतिक और मनोवैज्ञाकि मान्यताओं के रुप में वर्णित किया जाता हैं।

सत्याग्रही की प्रथम अनिवार्य आधारभूत मान्यता है- ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास और उसके प्रति अखण्ड श्रद्धा। इसका कारण स्पष्ट करते हुए गांधी जी कहते हैं कि सत्याग्रह के लिए "मनुष्य का अहिंसा में दृढ़ विश्वास होना चाहिए तथा ईश्वर में अखण्ड श्रद्धा के बिना यह असम्भव है। अहिंसा के अनुरूप आचरण करने वाला मनुष्य ईश्वर की शक्ति और कृपा के बिना कुछ नहीं कर सकता। इसके बिना उसमें क्रोध, भय तथा प्रतिशोध से मुक्त रहते हुए अपने आपको बलिदान कर देने का साहस उत्पन्न नहीं हो सकता।[107] सर्वशक्तिमान ईश्वर में विश्वास कर सत्याग्रही निर्भय हो सकता है जो सत्याग्रह की सफलता के लिए आवश्यक है। जो ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह उस जहाज की भांति हो जाता है जो दिशासूचक यंत्र के अभाव में अपने गंतव्य की ओर अग्रसर नहीं हो पाता और समुद्र में इधर-उधर भटकते हुए अन्ततः नष्ट हो जाता है।[108] किन्तु गांधीजी ईश्वर की अवधारणा को व्यापक अर्थो में· ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर सत्य या धर्म है, सदाचार एवम् नैतिकता है, निर्मलता है..... नास्तिकों की नास्तिकता भी है।[109] गांधी जी अपने अनुभव और सहज मनोवैज्ञानिक विकास के द्वारा 'ईश्वर सत्य है' से 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य पर पहुँच गये।

सत्याग्रह की दूसरी आवश्यक आधारभूत मान्यता है; मनुष्य की अच्छाई में सत्याग्रही का दृढ़ विश्वास। अर्थात् मनुष्य स्वभाव के अन्दर बसने वाली भलाई में उसका विश्वास होना चाहिए। इस भलाई को सत्य और प्रेम के द्वारा स्वयं दुःख सहकर जाग्रत करने की वह सदा आशा रखे।[110] इस सन्दर्भ में गांधी जी की प्रसिद्ध उक्ति थी- "आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।"[111] गांधी जी कि यह मान्यता थी कि अहिंसा की पद्धति का प्रयोग करते समय इस पर विश्वास करना ही चाहिए कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही भ्रष्ट क्यों न हो गया हो मानवीय एवम् कुशल उपचार द्वारा सुधारा जा सकता है।[112] यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानव मूलतः अच्छा है तथा उसमें उर्ध्वस्तरों पर जाने की आन्तरिक शक्ति है। उसमें एक प्रकार का दैवत्व-'डिवनिटी' है, ऊपर के हिंसा-कवच के भीतर, बहुत भीतर, कहीं प्रेम का अमृत विन्दु है। सत्याग्रह ऊपर के

कठोर आवरण के नीचे जाकर मानव के इसी अमृतत्व को पाने और उस सोये देवत्व को जगा देने का प्रयास है।[113] गांधी जी का सारा जीवन ही इस अदृश्य परन्तु अप्रतिहत दैवी शक्ति को मानव में जगाने और उसे संघटित करने का प्रयत्न है। मनुष्य मात्र की अच्छाई में विश्वास किये जाने के कारण ही गांधी जी यह कहा करते थे कि हमें पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नहीं।[114] वस्तुतः घोर अत्याचार एवं अन्याय करने वाले व्यक्ति में भी सद्वृत्तियाँ रहती हैं जिन्हें सत्याग्रही स्वयं कष्ट सहन कर अपनी करुणा द्वारा जगा सकता है और इस प्रकार एक अच्छा मनुष्य बनने में उसकी सहायता कर सकता है। वर्तमान समय में प्रचलित दंड का सुधारात्मक सिद्धान्त इन्हीं मान्यताओं पर आधारित माना जा सकता है।

तीसरे, सत्य और अहिंसा की शक्ति में सत्याग्रही का अटूट विश्वास होना भी अनिवार्य, है। अर्थात् उसकी सत्य और अहिंसा में धर्मभाव से श्रद्धा होनी चाहिए।[115] 'सत्यमेव जयते' 'अहिंसा परमोधर्मः' का आदर्श वाक्य सत्याग्रही का प्रेरणास्रोत होता है। इस विश्वास के आधार पर ही सत्याग्रही अपने विरोधी द्वारा दिये गये शारीरिक एवं मानसिक कष्ट को सहर्ष सहन कर सत्याग्रह के कठिन मार्ग पर अनवरत चलता रहता है। एवं सभी परिस्थितियों में इनके अनुसार आचरण करता है। गांधी जी सत्याग्रह की सफलता को पूर्णतः निश्चित मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है- "मैं इस बात को स्वतः सिद्ध सत्य मानता हूँ कि सच्ची अहिंसा विरोधी को प्रभावित करने में कभी असफल नहीं हो सकती। यदि वह असफल होती है तो वह अपूर्ण है।[116] वस्तुतः सत्य और अहिंसा सत्याग्रही के जीवन के अभिन्न अंग होने चाहिए। गांधी जी के अनुसार सत्याग्रही को अपने सामाजिक एव राजनीतिक जीवन में ही नहीं अपितु अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी सदा इन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिए।[117] यह योग दर्शन के उस सिद्धान्त में विश्वास के समान है जिसमें कहा गया है कि "अहिसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् अहिंसक व्यक्ति के पास हिंसक से हिंसक प्राणी भी अपना वैर त्याग देते हैं।

गांधी जी के अनुसार सत्य और अहिसा के अनुरूप आचरण करने के लिए मनुष्य में नैतिक एवं आध्यात्मिक बल का होना वहुत आवश्यक है तथा यह बल

आत्मशुद्धि के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि बुराइयों के विरुद्ध सत्याग्रह करने से पूर्व स्वयं सत्याग्रही को इन बुराइयों से मुक्त होना चाहिए। इन बातों से जूझने के लिए गांधी जी प्रथम चरण में आत्मविश्लेषण और उसके बाद आत्मशुद्धि किया करते थे। गांधी जी इस हेतु एकादश व्रत-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्मप्रतिसमभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यतानिवारण- को आत्मशुद्धि में बहुत सहायक मानते थे जिससे सत्याग्रही को अदम्य आत्मशक्ति प्राप्त रहती है। इस एकादश व्रत में प्रथम पांच को योग दर्शन में 'यम' कहते हैं और जैन दर्शन में 'महाव्रत'। अभय को छोड़कर शेष पांच गांधी की मौलिक देन है जिसको उन्होंने अपने अनुभव व देशकाल, परिस्थिति के अनुरूप जोड़ा है।[118] इस सन्दर्भ में आर. आर दिवाकर का मत है कि- "सत्याग्रही को सैनिक के यांत्रिक अनुशासन से कहीं अधिक आत्मानुशासन की आवश्यकता है। यद्यपि उसका काम यांत्रिक अनुशासन की पर्याप्त मात्रा के बिना भी नहीं चल सकता। सबसे प्रेम करने, क्रोधित न होने और बिना दुर्भावना के कष्टवरण की आदत सचमुच सरलतापूर्वक नहीं पड़ती। ध्यान एवं प्रार्थना की कठोर साधना तथा जीवन मूल्यों के पुनर्निधारण द्वारा ही कोई मनुष्य जीवन के प्रति ऐसे नवीन दृष्टिकोण की आधारभूत शिक्षा (योग्यता) पाा सकता है।[119] इस प्रकार सत्याग्रही शुद्ध जीवन बिताने वाला हो तथा अपने लक्ष्य के लिए अपना जान माल कुरबान करने को हमेशा तैयार रहे।[120] सत्याग्रह युद्ध की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें शस्त्रबल वाली सेना के गुण तो सब पाये जाते हैं किन्तु उसके दोष इसमें नहीं है। सत्याग्रही सेना के लिए भी दीर्घकालिक तैयारी, गहरा अनुशासन, वीरभावना, उद्देश्य के लिए सर्वस्व त्याग की आकांक्षा, उत्सर्ग एवं बलिदान की पूरी गंजाइश है परन्तु उसके दोष पर-पीड़न, जनसंहार, अविवेक, हृदयहीनता, भीति-प्रसार इत्यादि से वह सर्वथा रहित है।[121]

सत्याग्रही को उपर्युक्त शर्तो के अतिरिक्त निम्न सामान्य नियमों का भी पालन करना पड़ता है।-

- अक्रोध का पालन
- प्रतिपक्षी के क्रोध तथा प्रहार के सहन करने की शक्ति का होना।
- आदतन खादीधारी हो और साथ ही सूत कातने वाला हो।
- निर्व्यसन हो और सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं से दूर रहे।
- समय-समय बनाये गये अनुशासन के नियमों को वह प्रसन्नतापूर्वक तथा मन से पाले।
- यदि उनके आत्मसम्मान को चोट पहुँचाने के लिए वे विशेष रूप से न बनाये गये हों तो उसे कारागार नियमों का पालन करना चाहिए।

सत्याग्रह की उपरोक्त शर्तो के विश्लेषण से यह कहा. जा सकता है कि यदि यह एक ओर समूहगत समाजगत अन्यायों के निवारण का उपाय है तो दूसरी ओर श्रेष्ठ, सरल, निष्कपट, निःस्वार्थ, आत्मभाव-प्रधान जीवन बिताने की अनुशासन शृंखला है। इस प्रकार सत्याग्रह में व्यक्तिवादी एवं समाजवादी दोनों दृष्टियों का समन्वय है।

वस्तुतः मानव में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं- एक तो है उसकी जीवनी शक्ति (वाइटल फोर्स), दूसरी है उसकी नैतिक शक्ति (मॉरल फोर्स)। पहले से मानव का भौतिक विकास एवं प्रसार होता है; दूसरी से उस भौतिक प्रसार पर नियंत्रण की स्थापना होती है और संस्कृति का उदय होता है।[122] समस्त संस्कृति मानव की जीवनी-शक्ति पर ऐसे नियंत्रण के कारण ही प्रादुर्भूत होती है जिसमें अपना विकास दूसरे के विकास में बाधक न हो बल्कि यथासम्भव समानान्तर हो, साथ-साथ हो, जिसमें कम से कम दूसरे को मिटाकर अपने को बढ़ाने का भाव न हो। पहली शक्ति के अनियंत्रित विकास से समाज की स्थिति विषम हो जाती है, उसमें बुद्धिभेद, वर्गभेद, उत्पीड़न, शोषण तथा दूसरों के ऊपर अपने को स्थापित करने का भाव फैल जाता है। यही है विकर्षण व हिसा। जव तक जीवनी शक्ति का नियंत्रण एवं परिचालन नैतिक शक्ति द्वारा नहीं होता ममाज में ममस्थिति, अहिंसा की स्थिति, आकर्षण की स्थिति नहीं आ सकती और उसमें पारस्परिक द्वन्द्व और वैषम्य बना रहेगा। वस्तुतः सत्याग्रह समाज में इसी समस्थिति, अहिंसा व आकर्षण की स्थिति स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह यों ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। चूँकि सत्याग्रह सीधी कारवाई की सबसे प्रभावशाली पद्धति है इसलिए सत्याग्रही सत्याग्रह आरम्भ करने के पूर्व सभी अन्य उपायों को अजमा लेता है।[123] सत्याग्रही सर्वप्रथम स्वयं आग्रह मुक्त होकर अपनी न्यायपूर्ण मांगों के औचित्य के विषय में आश्वस्त हो जाय तभी अन्याय के प्रतिकार के लिए सम्यक् साधनों का प्रयोग करे। सत्याग्रही शात और अनुद्विग्न भाव से जनता के साथ-साथ अन्यायी के भी सामने अपनी जायज मांग को रखता है। उसके लिए तर्क देता है, उसे सोचने-समझने का मौका देता है और यदि उसके बाद भी अन्यायी अन्याय को दूर करने पर सहमत नहीं होता तब अन्त में सत्याग्रही अहिंसात्मक आन्दोलन छेड़ने की पूर्व सूचना देकर आन्दोलन छेड़ता है। वह अवसरवादिता, प्रदर्शन या झूठमूठ के समझौते आदि से बचता रहता है। किन्तु ज्योंही प्रतिपक्षी के हृदय में किसी प्रकार का प्रायश्चित या हृदय परिवर्तन पाता है, त्योंही वह उससे सही आधार पर मेल-मिलाप के द्वारा समस्या का समाधान कर लेता है। वह अपने विरोधी को कभी अपमानित करने की कोशिश नहीं करता। जैसा गांधी जी ने लिखा है, "सत्याग्रही न तो अन्यायी को नीचा दिखाना चाहता है और न डराना ही चाहता है। उसका तो उद्देश्य ही है कि प्रेम से समझा-बुझाकर उसके मस्तिष्क एवं हृदय को आश्वस्त कर उसका हृदय परिवर्तन किया जाय।[124]

प्रतिपक्षी के हृदय परिवर्तन के लिए सत्याग्रही के कष्ट सहन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। गांधी जी के अनुसार जहॉ व्यक्ति दीर्घकाल से किसी पूर्वाग्रह का शिकार रहता है वहाँ उसको दूर करने के लिए विवेक-शक्ति को ही जगाना काफी नहीं होता। इसके सिवा कष्ट-सहन की प्रक्रिया भी शुरू होनी चाहिए क्योंकि कष्टसहन ही हमारे विवेक को जगाता है। तथा सत्याग्रही की आत्मपरीक्षा भी करता है।"[125] वस्तुतः गांधी जी सत्याग्रह को 'सत्य के लिए तपस्या' या 'दुःख सहने का सिद्धान्त' मानते हैं। उनका कथन है- "कुछ भी मेरे इस विश्वास से मुझे विचलित नहीं कर सकता कि यदि लक्ष्य शुभ हो तो उसके लिए कष्ट सहन करना जितना उसकी प्राप्ति में सहायक होता है, उतना अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता।[126] गांधी

जी इन्हीं मान्यताओं पर पर्याप्त समय तक दक्षिण अफ्रीका और भारत में सत्याग्रह का प्रयोग करते रहे। जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली।

सत्याग्रह की प्रशाखाएं

सत्याग्रह असंख्य शाखाओं वाले वटवृक्ष के समान है।[127] अहिंसक प्रतिरोध, असहयोग, सविनय अवज्ञा, धरना, हड़ताल, उपवास इत्यादि अनेक स्रोतों में सत्याग्रह की स्रोतस्विनी गांधी युग में बही है। समय, स्थिति एवं तैयारी के अनुसार उसके रूप में परिवर्तन हुए हैं, विकास हुआ है, युद्ध कौशल बदलते रहे हैं। गांधी जी ने जितने रुपों में उसे व्यक्त किया, उन्हीं तक उसकी परिसमाप्ति नहीं है, उसकी अगणित विधाएं हो सकती हैं; अगणित सम्भावनाएँ आगे भी अनुसन्धान का मार्ग देख रही हैं। गांधी जी ने कहीं उसकी सीमा-रेखा नहीं खींची है। किन्तु सब रूपों में मूलाधार विकृत नहीं होना चाहिए उसमें आस्था नहीं डिगनी चाहिए।[128] डा. के. एल. श्रीधरनी ने बहुत योग्यतापूर्वक सत्याग्रह की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं का वर्गीकरण किया है। उनमें प्रमुख है, समझौता वार्ता और पचायत आन्दोलन, प्रदर्शन एवं अन्तिमेत्थम, आत्मशुद्धीकरण, हड़ताल, पिकेटिंग, धरना, आर्थिक वहिष्कार, लगानबन्दी, हिजरत, असहयोग, सामाजिक बहिष्कार, सविनय अवज्ञा, दृढ़निश्चयी सत्याग्रह, समानान्तर सरकार तथा इसी प्रतिमान के सम्भावित अन्य विस्तार।[129]

आर्नेनैश ने इन सभी सोपानों को क्रिया के स्वरूप के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। पहली श्रेणी में सत्याग्रह की सौम्य-प्रक्रिया आती है। इसके अन्तर्गत विचार-विमर्श, मध्यस्थता, हलचल तथा प्रदर्शन के कार्य आते हैं। दूसरी श्रेणी में सत्याग्रह की तीव्र-प्रक्रिया आती है। इसके अंतर्गत सीमित और सामूहिक क्षणिक और अनंतकालिक हड़ताल, आर्थिक बहिष्कार तथा सामाजिक बहिष्कार (जैसे स्कूल, कॉलेज तथा पद का त्याग) आते हैं। तीसरी श्रेणी में तीव्रतम-प्रक्रिया आती है जिसके अंतर्गत उपवास, सामूहिक असहयोग, सविनय अवज्ञा, क्रमिक अवज्ञा, पूर्ण अवज्ञा, समानान्तर सरकार की स्थापना इत्यादि आते हैं। एक अन्य विचारक श्री बंद्योपाध्याय ने सत्याग्रह के विभिन्न सोपानों का वर्गीकरण लव तथा क्षतिज-दोनों दृष्टियों से किया है तथा उन्होंने श्रीधरनी तथा वॉन डूरान्ट के विचारों की आलोचना

की है। क्षैतिज दृष्टि से सत्याग्रह के चार भेद उन्होंने किए हैं- 1. व्यक्तिगत सत्याग्रह- जहाँ पर व्यक्ति अन्याय का प्रतिकार करता है, 2. सामुदायिक सत्याग्रह- जहाँ पर एक समुदाय किसी समुदाय या व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिकार करता है, 3. सामूहिक सत्याग्रह- जहाँ पर पूरा समूह सत्याग्रह करता है। 4. अंतर्राष्ट्रीय सत्याग्रह'- जिसमें विश्व के अनेक राष्ट्र मिलकर सत्याग्रह कर सकते हैं। लब रूप से सत्याग्रह का विभाजन उन्होंने पांच वर्गो में किया है- क. उपवास ख. हिंसा का प्रतिकार ग. उपवास को छोड़कर अन्य आत्मपीड़न घ. असहयोग और हड़ताल ङ सविनय-अवज्ञा। एक अन्य विचारक एन. एस. कीनी ने उपर्युक्त सभी वर्गीकरणों की आलोचना की है। उनके अनुसार उपर्युक्त सत्याग्रह के कार्यो में आपसी कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं। उन विभिन्न सोपानों की आवश्यकता एवम् परिस्थिति के अनुसार बदला जा सकता है। किन्तु इसके विविध स्वरूपों का गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में विविध अवसरों पर अवलम्बन किया गया था। जिनमें कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलनों का निरुपण निम्नलिखित है-

असहयोग- गांधी जी ने असहयोग की परिभाषा देते हुए कहा है कि असहयोग एक स्वर्णिम अस्त्र है, एक देवास्त्र है। जब आप अन्याय देखें, किसी को पाप की साक्षात् मूर्ति के रुप में देखें तो उसका त्याग कर दें। दुर्भावना या घृणा से इसका प्रादुर्भाव नहीं होता।[130] सत्याग्रही ईश्वर पर श्रद्धा रखकर बिना मन में द्वेषभाव रखे अन्याय का विरोध करता है और अन्याय करने से रोकता है, इसके लिए उसके पास जो सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र है उसका नाम है असहयोग। वस्तुत: असहयोग अहिंसा की गतिशील अवस्था है।[131] अत: इसे सत्याग्रह की गतिशील अवस्था समझना चाहिए। असहयोग के पीछे मूल दर्शन है- सभी प्रकार के राजनैतिक तथा सामाजिक सम्बन्धों का आपसी सहयोग पर निर्भर होना। "यदि विशेष प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक व्यवस्था अन्याय तथा शोषण को प्रश्रय देती है, तो उसके उन्मूलन का सबसे सरल तथा मौलिक तरीका है- असहयोग के आधार पर पुराने सम्बन्धों को तोड़ना और नयी व्यवस्था में सहयोग देना।[132]

असहयोग अनुशासन और उत्सर्ग का कार्य है और इसमें विरोधी विचारों के प्रति धैर्य और आदर रखने की आवश्यकता पड़ती है। अगर हम अपने से बिल्कुल विरोधी विचारों के लिए पारस्परिक सहिष्णुता की भावना न विकसित कर सकें तो असहयोग असंभव हो जायेगा।[133] वस्तुतः सभी प्रकार के शोषण शोषितों के ऐच्छिक या वाह्य सहयोग पर निर्भर है। अतएव यदि लोग शोषक की आज्ञा का पालन बन्द कर दें तो शोषण नहीं होगा।[134] गांधी जी के इस विचार से स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग में भी वही सारी प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है, जो अहिंसा और सत्य के पालन के लिए आवश्यक होती है क्योंकि अहिंसक व्यक्ति ही सत्याग्रही होता है और सत्याग्रही ही असहयोग का अस्त्र उठा सकता है। गांधी जी ने इस्पात कारखाने (जमशेदपुर) में कर्मचारियों के सामने कहा था कि "मैं असहयोगी हूँ और सविनय भग का समर्थक हूँ, पर यह असहयोग अन्त में सहयोग करने के लिए ही है। मुझे झूठा सहयोग पसन्द नहीं। मेरा असहयोग दुष्टता के साथ है, दुष्ट प्रथा के साथ है। मेरा धर्म मुझे यह शिक्षा देता है कि बुरा काम करने वालों के साथ प्रेम करो।[135] इस प्रकार व्यक्ति के विरोध में नहीं अपितु दुष्टता के विरोध में, बुराई के खिलाफ यह असहयोग होता है। गांधी जी के शब्दों में "मैं काम करने की पद्धतियों और प्रणालियों से असहयोग करता हूँ मनुष्यों से कदापि नहीं।[136]

गांधी जी के अनुसार अहिंसक साधनों द्वारा सब प्रकार के अत्याचारों का प्रतिकार किया जा सकता है। अहिंसक असहयोग ही उनका मुख्य साधन है, जिस चीज को हिंसा कभी नहीं समाप्त कर सकती, वही अहिंसात्मक असहयोग द्वारा समाप्त की जा सकती है और अन्त में जाकर अत्याचारियों का हृदय परिवर्तन किया जा सकता है।[137] गांधी जी का कहना था कि तानाशाही सरकारें भी बिना जनता के सहयोग के नहीं चल सकतीं। उन्होंने जनता को यह अधिकार दिया कि उसे अनौचित्यपूर्ण, अनैतिक, भ्रष्ट और कर्तव्य से विफल सरकार का विरोध करना चाहिए। यहाँ पर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक लगता है कि गांधी जी ने जनता को सरकार के विरोध का अधिकार प्रदान किया, परन्तु यदि ऐसा करने से सरकार पतनोन्मुख हो गयी तब क्या होगा? अराजकता की स्थिति में क्या होगा? यहाँ गांधी जी का स्पष्ट उत्तर है कि "असहयोग आत्म शुद्धीकरण की विधि है।"[138]

अर्थात् असहयोग के दौरान सत्याग्रह की शक्ति के कारण जनमत का उत्थान होगा और यह उत्थान एक समानान्तर व्यवस्था को जन्म देगा, जिस पर सरकार के पतन का कोई प्रभाव नहीं होगा। इस प्रकार जनमत पुनः लोककल्याणकारी सत्ता का निर्माण कर लेगी। यदि वह ऐसा करने में अक्षम है तो वह गुलामी को निमंत्रित करती है।

सविनय अवज्ञा– सविनय अवज्ञा सत्याग्रह की दूसरी शाखा है जो सत्याग्रह का अधिक सक्रिय रूप है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हेनरी डेविड थोरो ने 1849 ई में अपने व्याख्यानों में किया था। उनके सिद्धान्त का सारांश है- शुभ कार्य करने पर व्यक्तियों एवं संस्थाओं के साथ अधिकतम सहयोग एवं अशुभ कार्य करने पर असहयोग।[139] दासता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अमरीका की सरकार के न केवल निष्क्रिय बल्कि सक्रिय हिंसक विरोध को भी थोरो ने उचित ठहराया। उनका विश्वास था कि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति शुभोन्मुख है। सभी परिस्थितियों में विवेक को प्रधानता देने का वह पक्षपाती था तथा शासन विहीन भावी समाज के आदर्श का प्रचारक था।[140] गांधी जी की सविनय अवज्ञा थोरो से प्रेरित थी मगर इनकी सविनय अवज्ञा अहिंसक थी, जबकि थोरो को हिंसा प्रयोग पर आपत्ति नहीं थी।

गांधी जी सविनय अवज्ञा की उपादयेता बताते हुए कहते है कि "सविनय अवज्ञा जीवन का एक शाश्वत् सिद्धान्त है, जिसका लोग जाने अनजाने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रयोग करते रहते हैं। सरकार के शस्त्रागार में कोई भी शस्त्र उस शाश्वत् शक्ति को न तो पराजित, न तो नष्ट कर सकता है। एक समय निश्चित ही आयेगा जब शिकायतों के निराकरण में सविनय प्रतिरोध सबसे सफल तथा साथ ही सबसे निरापद औषधि के रूप में ग्रहण किया जायेगा।[141] सविनय अवज्ञा का उपयोग तभी स्वस्थ, आवश्यक और प्रभावशाली होगा जब हम सर्वांगीण विकास के नियम का पालन करें। अतएव हमें अवज्ञा के बजाय सविनय विशेषण को पूर्ण और अधिक महत्व देना चाहिए। सविनयता, अनुशासन, विवेक और अहिंसा के बिना की गयी अवज्ञा निश्चय ही ध्वंस है। प्रेम मिश्रित अवज्ञा जीवन का प्राणद जल है।

सविनय अवज्ञा विकास को सूचित करने वाला एक सुन्दर भिन्न रूप है।[142] गांधी जी कहते हैं जब किसी व्यक्ति या राष्ट्र की आत्मा पर आघात पहुँचता है, तब सविनय अवज्ञा करना उसका अधिकार और धर्म है। "मैं आज पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से यह बात मानता हूँ। मुझे इस बात का निश्चय हो चुका है कि युद्ध की अपेक्षा सविनय अवज्ञा में कम खतरा है। युद्ध अन्त में जहाँ विजेता और विजित दोनों को हानि पहुँचाती है वहाँ सविनय अवज्ञा दोनों का मंगल करता है।[143] गांधी जी के शब्दों में यह सशस्त्र विद्रोह का पूर्ण, प्रभावशाली एवं शान्तिपूर्ण विकल्प है।

सविनय अवज्ञा का वर्गीकरण गांधी जी ने आक्रामक एवम रक्षणात्मक में किया है। आक्रामक सविनय अवज्ञा वह है जिसमें राज्य के कानूनों की अहिंसक स्वेच्छाकृत अवज्ञा उनकी नैतिक भ्रष्टता के कारण नहीं राज्य के प्रतीक विद्रोह के प्रतिक के रुप में की जाती है।[144] रक्षणात्मक सविनय अवज्ञा वह है जिसमें ऐसे अनैतिक कानूनों की अनच्छिापूर्वक या विवशतापूर्वक अहिंसक अवज्ञा की जाती है। जिनका पालन करना आत्मसम्मान या मानवीय गरिमा के प्रतिकूल है।[145]

अहिंसात्मक धरना– अहिंसात्मक धरना भी असहयोग एव सविनय अवज्ञा की भाति अन्याय और अत्याचार के प्रतिरोध का एक साधन है। "इसका उद्देश्य अन्याय करने वाले व्यक्ति या समुदाय को शंतिपूर्ण उपायों द्वारा उचित मार्ग पर लाना है। इसके लिए सत्याग्रही उस व्यक्ति अथवा समुदाय को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वयं दु:ख सहन करता है। इसी अर्थ में गांधी जी ने सत्याग्रही के लिये धरना देना उचित माना है।[146] गांधी जी अहिंसक धरना के विपरीत सामान्य धरनों के कटु आलोचक थे। उन्होंने कहा था– "सामान्य धरना एक पाशविकता है क्योंकि यह अनुचित दबाव डालने का यह बड़ा ही भोंडा तरीका हैं। यह एक प्रकार की कायरता ही है, क्योंकि जो धरना देने बैठता है वह जानता हैं कि कोई भी उसके शरीर को रौंदता हुआ आगे नहीं बढ़ेगा। यह प्रथा असभ्य है क्योंकि इसमं किसी को भी जबरदस्ती रोका जाता है। इसमें कायरता भी है क्योंकि जो धरना देने बैठता है, वह अच्छी तरह जानता है कि विरला ही कोई हृदयहीन होगा जो उन्हें

कुचल कर आगे बढ़ेगा।[147] वास्तव में धरना हमेशा अहिंसक होना चाहिए। गांधी जी ने कहा है कि अहिंसक धरना देने वाले का यह कर्तव्य है कि "वह जनमत को जगाये, उपयुक्त वातावरण निर्मित करे तथा सामने वाले व्यक्ति को चेतावनी दें तथा उसका हृदय परिवर्तन कर ही दें।[148] अहिंसक धरने का उद्द्देश्य अन्याय करने वाले व्यक्ति या समुदाय को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा उचित मार्ग पर लाना है। इसके लिए सत्याग्रही उस व्यक्ति अथवा समुदाय को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वय दुःख सहन करता है। इसी अर्थ में गांधी जी धरना को उचित मानते हैं। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय गांधी जी ने शराब, अफीम तथा विदेशी कपड़ा आदि दुकानों के सामने धरना देने का समर्थन किया था तथा सफलता भी इस साधन के द्वारा प्राप्त की थी। गांधी जी का धरना देने वालों को स्पष्ट निर्देश था कि- "किसी व्यक्ति का घेराव करना उसे डराना-धमकाना, उसके प्रति कटु शब्द कहना, उसका पुतला जलाना आदि हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करने से सत्याग्रह के बुनियादी सिद्धान्त का नियम भंग होता है,[149] वही धरना सत्याग्रह हेतु उपयुक्त है जो पूर्णतः अहिंसात्मक हो।

बहिष्कार- बहिष्कार सत्याग्रह का एक अन्य प्रभावी रूप है। इसके प्रयोग में भी गांधी जी ने सावधानी बरतने की चेतावनी दी थी, क्योंकि इसमें हिंसक तत्त्वों के आ जाने की अधिक आशंका रहती है। मूलतः बहिष्कार दो प्रकार का होता है-

1. सामाजिक बहिष्कार 2. आर्थिक बहिष्कार। गांधी जी के अनुसार सामाजिक बहिष्कार का अर्थ किसी व्यक्ति को अनिवार्य सामाजिक सेवाओं से वंचित करना नहीं है.......अपितु उसकी अनैतिकता में सहयोग का अभाव है। सामाजिक बहिष्कार के नाम पर किसी व्यक्ति अथवा समुदाय को भोजन, पानी,. वस्त्र, मकान, चिकित्सा आदि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों से वंचित करना घोर हिंसा और अक्षम्य अपराध है। इसके अतिरिक्त निरन्तर अपमान निन्दा अथवा बदनामी करके उसके जीवन को कष्टदायक तथा असहाय बना देना भी हिंसा है, जो अनुचित और निन्दनीय है।"[150] गांधी जी के अनुसार- "शांत एवं अहिंसक बहिष्कार का सत्याग्रह में पूरा स्थान है शुद्ध बहिष्कार अन्त में विष नहीं फैलाता है।[151] महात्मा गांधी ने

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान बहुत से ऐसे अहिंसक बहिष्कारों का नेतृत्व किया था। सन् 1921-22 के दौरान भारतीय जनता का एक अभूतपूर्व आन्दोलन हुआ था। हजारों छात्रों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़कर राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजों में प्रवेश लिया। इसी समय जामिया मिलिया इस्लामिया (अलीगढ़), बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ का जन्म हुआ। चितरंजन दास (देशबन्धु), मोतीलाल नेहरु और राजेन्द्र प्रसाद सहित सैकड़ों वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। समूचे देश में विदेशी कपड़ों का बहिष्कार प्रारम्भ हुआ तथा उसकी होली जलाई गई। जुलाई 1921 में "आल इण्डिया खिलाफत कमेटी" ने एक प्रस्ताव पास कर मुसलमान सैनिकों को ब्रिटिश भारत की फौज का बहिष्कार करने को कहा।[152] यह सब गांधी जी के सत्याग्रह का ही प्रभाव था।

उपवास– सत्याग्रही का अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण शस्त्र है 'उपवास'। एक प्रकार से यह एक शुद्ध एवं प्रेमपूर्ण हृदय की प्रार्थना की उच्चतम अभिव्यक्ति है। आत्मशुद्धि की पद्धति के रुप में इसकी उपयोगिता को तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उपवास आत्मशुद्धि का अभूतपूर्व तरीका है। गांधी जी के अनुसार अपनी और दूसरों की शुद्धि के लिये उपवास करना युगों पुरानी प्रथा है। यह आर्त्त हृदय की परमात्मा के प्रति प्रार्थना है।[153] गांधी जी के अनुसार यह दावा करने का दु:साहस मुझमें है कि सत्याग्रही के शस्त्रागार में उपवास एक अव्यर्थ शस्त्र है।[154] यद्यपि गांधी ने उसके प्रयोग के लिए सुनिश्चित नियम तो नहीं बनाये थे तथापि एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन अवश्य किया। वस्तुत: न्याय प्राप्त करने के लिए सभी उपायों को परख लेने और उनके विफल हो जाने के बाद ही सत्याग्रही को अन्तिम उपाय के रूप में उपवास का अवलम्बन करना चाहिए[155] सर्वप्रथम गांधी जी ने सन् (1919) में रौलेट ऐक्ट के विरोध में चलाये गये सत्याग्रह के पूर्व जनता को उपवास की महत्ता बताई थी। गांधी जी के शब्दों में 'उपवास एक इतनी पुरानी अवधारणा है जितना कि आदम। आत्मशुद्धि के लिये या अच्छे कार्य की सिद्धि के लिये इसका आश्रय लिया जा सकता है। बुद्ध, ईसामसीह, मोहम्मद ने भगवान के साक्षात्कार के लिये उपवास किया था। रामचन्द्र ने इसलिए उपवास किया था ताकि समुद्र उनकी बन्दर सेना को

रास्ता दे सकें। अपने उपवास में मैंने इन महान् उदाहरणों का अनुकरण किया है, यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे उद्देश्य उतने महान् नहीं हैं, जितने इन महान् पुरुषों के थे।[156] गांधी जी द्वारा किये गये उपवास में प्रमुख अहमदाबाद के मिल मजदूरों की हड़ताल के पक्ष में किया गया उपवास है। इस उपवास के प्रभाव का निरूपण करते हुए गांधी कहते हैं कि "मैंने 1918 में अहमदाबाद के मजदूरों और मिल मालिकों के झगड़े में हस्तक्षेप किया और समझौता कराने हेतु आमरण अनशन किया अनशन के चौथे दिन मिल मालिक नरम पड़ गये और मजदूरी में 35 प्रतिशत बढ़ाने को तैयार हो गये।[157] अन्तत: यह कहा जा सकता है कि उपवास के लिए महान आन्तरिक शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसमें आन्तरिक शक्ति नहीं है, उसे इसका नाम भी नहीं लेना चाहिए और सफलता के प्रति आसक्ति रखकर तो इसे कभी करना ही नहीं चाहिए।

हिजरत– गांधी जी के सत्याग्रह सिद्धान्त का एक अमोघ और अद्भुत स्वरूप है– "हिजरत"। हिजरत का अर्थ है स्थाई निवास स्थान छोड़कर दूसरी जगह चले जाना।[158] यहाँ एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है कि किन परिस्थितयों में सत्याग्रही स्थान का परित्याग करे? गांधी जी का मत है कि "जब अत्याचारी या आततायी सीमा से बाहर अत्याचार करे, उसका आतंक उत्पीड़न, असह्य हो जाय, सत्याग्रही यह अनुभव करे कि यदि वह स्थान का परित्याग नहीं करेगा तो वह अपना आत्म संयम खो बैठेगा। तो श्रेयस्कर यही है कि वह उस स्थान का त्याग कर दे। तभी उसके सत्याग्रही मूल्य सजीव रह पायेंगे।[159] गांधी जी ने "सन् 1928 में बारदोली के सत्याग्रहियों को और सन् 1939 में लिम्बड़ी, जूनागढ़ और विट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को घर छोड़ने की सम्मति दी थी। 1935 में उन्होने 'कैथा' हरिजनों को अपना घर छोड़ने की सम्मति दी थी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू उनमें नियमित रुप से आतंक फैला रहे थे और इसमें अत्यन्त भय उत्पन्न हो गया था।[160]

सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध

सत्याग्रह के अर्थ एवं स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसे कुछ अन्य समानार्थक एवं विरोधी अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में भी देखना अनिवार्य है।

इस रूप में सत्याग्रह का निष्क्रिय प्रतिरोध एवं दुराग्रह से तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है। क्योंकि सत्याग्रह को कभी-कभी भ्रम व अज्ञानवश निष्क्रिय प्रतिरोध का पर्यायवाची मान लिया जाता है एवं स्वार्थवश सत्याग्रह के विकृत एवं विपरीत स्वरूप वाले दुराग्रह को भी सत्याग्रह के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। अतएव सर्वप्रथम हम सत्याग्रह का तुलनात्मक विवेचन निष्क्रिय प्रतिरोध एवं तत्पश्चात् दुराग्रह से करेंगे।

जब गाधी जी ने सर्वप्रथम सत्याग्रह का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में किया तो इसे लोग समसामयिक इंग्लैड एवं अफ्रीका में प्रचलित 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के समानार्थक मानने लगे। परन्तु गांधी जी अपने द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलन के लिए सत्याग्रह शब्द का आविष्कार किया तथा इसे स्वयं ही निष्क्रिय प्रतिरोध से बिल्कुल भिन्न स्वरूप वाला बतलाया। उनके शब्दों में जिस प्रकार उत्तरी ध्रुंव दक्षिणी ध्रुव से भिन्न है, उसी प्रकार सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न है,[161] इस प्रकार गांधी ने दोनों को परस्पर विपरीत ध्रुवों वाला बताया। उनके अनुसार सत्याग्रह जो असहयोग सविनय अवज्ञा इत्यादि द्वारा अभिव्यक्त होता है, उसमें शारीरिक प्रतिरोध अथवा हिंसा से अधिक सक्रियता रहती है। अतः यह सक्रियता की गहन अवस्था है।[162] अतएव इसे निष्क्रिय कहना भूल है। फिर निष्क्रिय प्रतिरोध में हिसा के लिए पर्याप्त स्थान है क्योंकि वहाँ पर मौका देखकर शस्त्र का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु सत्याग्रह में अनुकूल परिस्थिति रहने पर भी शरीर-बल का प्रयोग वर्जित है।[163] इसका कारण है कि सत्याग्रह का आधार गीता का निष्काम कर्मयोग है परन्तु निष्क्रिय-प्रतिरोध फलवादी सिद्धान्त है। इसमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी समय साधन को बदला जा सकता है। सत्याग्रह का आधार साधन-साध्य की एकता है। निष्क्रिय-प्रतिरोध दुर्बलों[164] का अस्त्र है तथा इसके पीछे भय का संवेग काम करता है। प्रतिपक्षी को परेशान[165] करने की भावना रहती है। अतः यह एक प्रकार की दबाव[166] की पद्धति है। इसमें प्रेम[167] का कहीं भी स्थान नहीं होता है। परन्तु सत्याग्रह बहादुरों का अस्त्र है। वह हँसते-हँसते अपनी सारी चीजों का बलिदान कर सकता है। वह अभय[168] व्रत का उपासक होता है। सत्याग्रही प्रतिपक्षी को न तो दबाव देना चाहता है और

न उसे परेशान करना चाहता है। इसके बदले वह स्वयं अपने ऊपर दुःख का बोझ ले लेता है।[169] आत्मपीड़न के द्वारा सत्याग्रही प्रतिपक्षी के हृदय में प्रवेश करता है। अतः यह हृदय-परिवर्तन[170] की पद्धति है। इसका आधार ही प्रेम है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक प्रकार की अभावात्मक वस्तु है।[171] इसमें मानव के हृदय पविर्तन की शक्ति नहीं है।[172] यहाँ मानव की अच्छाइयों में विश्वास नहीं किया जाता जबकि सत्याग्रह एक भावात्मक सिद्धान्त है। मानव की अच्छाइयों में अखंड विश्वास करता है। इसके द्वारा प्रतिपक्षी के दिल और दिमाग का परिवर्तन किया जा सकता है। चूँकि निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा की भावना रह जाती है अतः यह प्रतिपक्षी के मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। अतः उसका परिणाम प्रतिहिंसा है। परन्तु सत्याग्रह पूर्णरूपेण अहिंसक सिद्धान्त है, अतः यहाँ प्रतिपक्षी के मन में कोई प्रतिक्रिया या प्रतिहिंसा उत्पन्न नहीं होती। उसका केवल हृदय बदल जाता है। निष्क्रिय-प्रतिरोध में रचनात्मक कार्यक्रम का कोई स्थान नहीं है।[173] परन्तु रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह का आवश्यक अंग है। अतः डॉ. आर.आर. दिवाकर के अनुसार निष्क्रिय-प्रतिरोध जीवन-दर्शन नहीं बन सकता।[174] परन्तु सत्याग्रह भावात्मक होने के कारण एक स्वस्थ जीवन-दर्शन है। यह किसी भी विकृत व्यवस्था तथा बुराई का विरोध करता है। परन्तु व्यवस्थापक अथवा बुराई करने वाले का विरोध नहीं करता है।[175]

सत्याग्रह और दुराग्रह- सत्याग्रह की प्रक्रिया दुराग्रह की प्रक्रिया से भी भिन्न है। दुराग्रही निरपेक्ष सत्य में विश्वास करता है। परन्तु सत्याग्रह का आधार ही सापेक्ष सत्य है।[176] सत्याग्रही इस बात से परिचित रहता है कि मानव द्वारा प्राप्त ज्ञान सापेक्ष सत्य का ज्ञान है। जो एक के लिए सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है। अतः सत्याग्रही अपने विचारों को दूसरे पर लादने की कोशिश नहीं करता है।[177] इसके संघर्ष का लक्ष्य सुलह और समझौता है, दबाव नहीं।[178] अतः सत्याग्रही प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना नहीं चाहता है। दुराग्रह में एक प्रकार का दबाव है। परन्तु सत्याग्रह सभी प्रकार के दबाव तथा हिंसा से मुक्त है। दुराग्रही वह होता है जो अपने स्वार्थ को विशेष महत्व देता है। परन्तु सत्याग्रही अपने स्वार्थो को समूह के स्वार्थ के लिए तिलांजलि दे देता है। वह अपने ऊपर ही दुःख

लेना चाहता है। अतः उसे दुराग्रही कहना अनुचित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्याग्रह न केवल शाब्दिक रूप में वरन् भाव, आदर्श, सिद्धान्त एवं व्यापकता सभी दृष्टियों से निष्क्रिय प्रतिरोध एवं दुराग्रह से भिन्न, विपरीत, विलक्षण, एवं अद्वितीय है। यह साक्षात् अहिंसक प्रक्रिया है जिसमें काफी सक्रियता, लोकमंगल की भावना एवं परिवर्तन करने की शक्ति है। वस्तुतः अगले अध्याय में सत्याग्रह की इसी परिवर्तन करने की शक्ति यानी सामाजिक परिवर्तन की पद्धति के रूप में सत्याग्रह का विवेचन एवं विश्लेषण किया जायेगा।

सन्दर्भ स्रोत

1. श्री 'सुमन' रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन, भवानी कुटीर, इलाहाबाद 1967, पृ. 207 ।
2. वही, पृष्ठ 26 ।
3. गांधी महात्मा, 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' ।
4. द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, वाल्यूम 28, पृष्ठ 173 ।
5. यंग इण्डिया, 14 जनवरी 1920 ।
6. शार्प जीन, 'गांधी वेल्ड्स द वेपन ऑफ मॉरल पावर', पृ. 9 ।
7. डगलस, जेम्स डब्लू, 'रिवोल्यूशन थ्रू सौलिट्यूड' गांधी मार्ग, अक्टूबर, 1971, पृ. 259 ।
8. प्रसाद, महादेव, (अनु.), विष्णुकान्त शास्त्री, 'महात्मागांधी का समाज दर्शन', हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ. 18 ।
9. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मागांधी, भाग 15 से ।
10. श्री 'सुमन' रामनाथ, (सं.), 'सत्याग्रह' पृ. 84 ।
11. यंग इण्डिया, 3.12.1931 ।
12. 'सुमन' रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', पृ. 17 ।
13. वर्मा वेद प्रकाश, 'दर्शन विवेचना', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली 1989, पृ 171 ।
14. 'सुमन' रामनाथ (सं.) 'सत्याग्रह', पृ. 107 ।

15. वही, पृ. 13 ।
16. इंण्डियन ओपिनियन, 11-12-1909 ।
17. शाह कांतिभाई (सं.), 'गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने', पृ. 69 ।
18. वही, पृ. 68 ।
19. वही, पृ. 51 ।
20. वही, पृ. 47 ।
21. वही, पृ. 52 ।
22. वही, पृ. 52-53 ।
23. वही, पृ. 53 ।
24. वही, पृ. 51 ।
25. वही, पृ. 51 ।
26. वही, पृ. 52 ।
27. विनोबा चिंतन, नवम्बर-दिसम्बर, 1958, पृ. 454 ।
28. वही, पृ. 464 ।
29. वही, पृ. 472 ।
30. वही, पृ. 472 ।
31. 'सुमन' रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', पृ. 22 ।
32. यंग इण्डिया 5 नवम्बर, 1919 ।
33. गांधी महात्मा, 'गीता माता', पृ. 45 ।
34. गीता
35. आशीर्वादम एडी तथा मिश्र कृष्णकान्त, 'राजनीति विज्ञान', एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2000, पृ. 861 ।
36. इशोपनिषद
37. आशीर्वादम एडी तथा मिश्र कृष्णकान्त, 'राजनीति विज्ञान', एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2000, पृ. 862 ।
38. वही, पृ. 863 ।

39. वही।
40. गाबा, ओ.पी., 'राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा', मयूर पेपरबैक्स, 1996 पृष्ठ 416 ।
41. आशीर्वादम एडी तथा मिश्र कृष्णकान्त, 'राजनीति विज्ञान', पृ. 863 ।
42. द स्टेट्समैन 1 फरवरी, 1957 ।
43. वही ।
44 वही ।
45. आशीर्वादम एडी तथा मिश्र कृष्णकान्त, 'राजनीति विज्ञान', पृ. 864 ।
46. दिनकर रामधारी सिंह, 'संस्कृति के चार अध्याय', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ. 532-533
47. वही पृ. 537 ।
48. वही ।
49. प्रसाद महादेव, 'गांधी का समाज दर्शन', हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ 1989, पृ. 117 ।
50. यंग इण्डिया, अगस्त 1920 ।
51. मशरुवाला किशोरलाल, 'गांधीवाद समाजवाद', पृ. 3 ।
52. धवन गोपीनाथ, 'द पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी', 1951, पृ. 75-76 ।
53. श्री 'सुमन' रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन, भवानी कुटीर, इलाहाबाद, 1967, पृ. 21 ।
54. श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह समिति प्रकाशन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कालजयी गांधी' 1995, में संकलित लेख अहिंसा द्वारा सत्य की प्राप्ति (लेखक) आर.आर. दिवाकर पृ. 63 ।
55. वही ।
56. वही ।
57. वही ।
58. वही, पृ. 64 ।

59. वही ।
60. उपाध्याय हरिभाऊ, 'स्वतंत्रता की ओर', सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1961, पृ. 64 ।
61. वही ।
62. वही, पृ. 67 ।
63. वही, पृ. 64 ।
64. वही, पृ. 65 ।
65. वही, पृ. 66 ।
66. गांधी जी, 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', पृ. 43 ।
67. गांधीजी, 'फ्रॉम यरवदा मन्दिर', पृ. 5 ।
68. उपाध्याय हरिभाऊ, 'स्वतंत्रता की ओर', सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1961, पृ. 69 ।
69. हरिजन 25.10.1935 ।
70. गांधी जी, 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग', पृ. 6 ।
71. प्रसाद महादेव, 'गांधी का समाज दर्शन', हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ 1989, पृ. 10 ।
72. श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह समिति ·प्रकाशन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कालजयी गांधी' 1995 में संकलित लेख 'अहिंसा द्वारा सत्य की प्राप्ति' (लेखक) आर.आर. दिवाकर, पृ. 63 ।
73. वही, पृ. 64 ।
74. उपाध्याय हरिभाऊ, 'स्वतंत्रता की ओर', सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1959, पृ. 107 ।
75. गांधी महात्मा, 'धर्मनीति', पृ. 23 ।
76 यंग इण्डिया, 9 मार्च 1920 ।
77. यग इण्डिया, 11 अगस्त 1920 ।
78. यंग इण्डिया, 12 अगस्त 1926 ।
79. वही ।

80. एडी आशीर्वादम एडी तथा मिश्र कृष्णकान्त, 'राजनीति विज्ञान', एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2000, पृ. 872 ।
81. वही ।
82. दिनकर रामधारी सिंह, 'संस्कृति के चार अध्याय', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2002, पृ 537 ।
83. वही, पृ. 531 ।
84. वही, पृष्ठ 532 ।
85. वही ।
86. श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह समिति प्रकाशन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कालजयी गांधी', 1995 में संकलित लेख 'अहिंसा द्वारा सत्य की प्राप्ति' (लेखक) आर.आर. दिवाकर, पृ. 62 ।
87. आशीर्वादम एडी तथा मिश्र कृष्णकान्त, 'राजनीति विज्ञान', एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2000, पृ. 876-77 ।
88 वही ।
89. सेठी जयदेव, 'गांधी की प्रांसगिकता', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1979, पृ. 36।
90. वही ।
91. वही, पृ. 38 ।
92. दिनकर रामधारी सिंह, 'संस्कृति के चार अध्याय', लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2002, पृ. 537 ।
93. श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह समिति प्रकाशन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कालजयी गांधी', 1995 में संकलित लेख 'अहिंसा द्वारा सत्य की प्राप्ति' (लेखक) आर.आर. दिवाकर, पृ. 62 ।
94. वही ।
95. वही ।
96. वही ।

97. वही ।
98. उपाध्याय हरिभाऊ, 'स्वतंत्रता की ओर', पृ. 107 ।
99. प्रसाद महादेव, 'गांधी का समाज दर्शन', हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ 1989, पृ. 52 ।
100. दिनकर रामधारी सिंह, 'संस्कृति के चार अध्याय', लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2002, पृ. 538 ।
101. उपाध्याय हरिभाऊ, 'स्वतंत्रता की ओर', पृ. 68 ।
102. वही, पृ. 60 ।
103. यंग इण्डिया, 23 मार्च 1922 पृ. 186 ।
104. श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह समिति प्रकाशन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कालजयी गांधी', 1995 में संकलित लेख 'अहिंसा द्वारा सत्य की प्राप्ति' (लेखक) आर.आर. दिवाकर, पृ. 63 ।
105. वर्मा, वेद प्रकाश, 'दर्शन विवेचना', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 1989, पृ. 17 ।
106. मशरुवाला किशोरलाल, 'गांधी विचार दोहन', पृ. 73 ।
107. हरिजन 18 जून, 1938 ।
108. हरिजन, 20 जून 1947, पृ. 240 ।
109. एन्ड्रूज, 'महात्मा गांधीज आइडियाज', पृ. 43 ।
110. मशरुवाला किशोरलाल, 'गांधी विचार दोहन', पृ. 73 ।
111. दत्त धीरेन्द्र मोहन, 'महात्मा गांधी का दर्शन', बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना, 1985, पृ. 47 ।
112 हरिजन, 22 फरवरी, 1942 ।
113. सुमन रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', पृ. 25 ।
114. वर्मा, वेद प्रकाश, दर्शन विवेचना, पृ. 174 ।
115. मशरुवाला किशोरलाल, 'गांधी विचार दोहन', पृ. 73 ।
116. हरिजन 6 मई 1939 पृ. 112 ।

117. हरिजन, 21 जुलाई, 1940, पृ. 210 ।
118. पाण्डेय, संगमलाल, 'गांधी का दर्शन' (दार्शनिक शोध साहित्य, 6) पृ.73 ।
119. दिवाकर आर.आर., 'सत्याग्रह', पृ. 77 ।
120. मशरूवाला किशोरलाल, 'गांधी विचार दोहन', पृ. 73 ।
121. 'सुमन' रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', पृ. 24 ।
122. वही, पृ. 18 ।
123. वही, पृ. 45 ।
124. हरिजन, 25 मार्च, 1939 ।
125. यंग इण्डिया, 19 मार्च, 1925 ।
126. यंग इण्डिया, 2, पृ. 838 ।
127. 'सुमन', रामनाथ, (सं.) 'सत्याग्रह', पृ. 22 ।
128. वही, पृ. 26 ।
129. प्रसाद महादेव, 'महात्मा गांधी का समाज दर्शन', पृ. 128 ।
130. नवजीवन, 3 नवम्बर 1920 ।
131. यंग इण्डिया, 11.8.1920 ।
132. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना 1975, पृ. 494 ।
133. 'सत्याग्रह', पृ. 33 ।
134. बोस एन.के., 'सेलेक्शन फ्रॉम गांधी', पृ. 93 ।
135. हिन्दी नवजीवन, 20.8.1925 ।
136. यंग इण्डिया, 12.9.1925 ।
137. हरिजन सेवक, 20.4.1940 ।
138. यंग इण्डिया, 24.11.1920 एवं 'सत्याग्रह', पृ. 40 ।
139. प्रसाद महादेव, 'महात्मा गांधी का समाज दर्शन', पृ. 128 ।
140. धवन गोपीनाथ, 'पोलिटकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी,' पृ. 128 ।
141. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 109 ।

142. यंग इण्डिया, 5.1.1922 एवं 'सत्याग्रह', पृ. 142 ।

143. यंग इण्डिया, 10.2.1924 एवं 'सत्याग्रह', पृ. 36 ।

144. यंग इण्डिया, 9 फरवरी 1922 ।

145. वही, ।

146. वर्मा वेद प्रकाश, 'महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन', पृ. 158-59 ।

147. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 41 ।

148. हरिजन, 27.8.1938 ।

149. वर्मा वेद प्रकाश, 'महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन', पृ. 159 ।

150. यंग इण्डिया, भाग 1, पृ. 299, व वेदप्रकाश वर्मा, 'महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन', पृ. 160 ।

151. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 58 ।

152. चन्द्रा विपिन, 'आधुनिक भारत', 1987 पृ. 219-20 ।

153. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 46 ।

154. हरिजन 11 अप्रैल 1946 ।

155. वही ।

156. रमैयय्या पट्टाभिसीता, 'गांधी और गांधीवाद' पृ. 152 ।

157. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 83-85 ।

158. श्रीवास्तव जगदीश सहाय, 'समाज दर्शन की भूमिका', पृ. 371 ।

159. वही ।

160. वही ।

161. यंग इण्डिया, 14 जनवरी, 1920, पृ. 5 ।

162. यंग इण्डिया, 29.8.20 ।

163. गांधी, 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', नवजीवन पब्लिसिंग हाउस, अहमदाबाद, 1950, पृ. 179 ।

164. गांधी 'सत्याग्रह', पृ. 3 ।

165. गांधी, 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', पृ. 179 ।

166. हरिजन, 8.7.39 पृ. 123 ।
167. गांधी 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', पृ. 178 ।
168. हरिजन, 25.3.39 पृ. 64 ।
169. गांधी, 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', पृ. 179 ।
170. हरिजन, 8.7.39 पृ. 193 ।
171. हरिजन, 14.5.38 पृ. 111 ।
172. हरिजन, 20.7.47 पृ. 243 ।
173. वान्डूरान्ट, जे.वी., 'कनक्वेस्ट ऑफ वायलेंस', पृ. 120 ।
174. दिवाकर, आर.आर., 'सत्याग्रह द पाथवे टू पीस', पटना पुस्तक भण्डार, 1950, पृ. 27 ।
175. यंग इण्डिया, 25.5.21, पृ. 164 ।
176. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 3 ।
177. यंग इण्डिया, 1.5.1924 ।
178. हरिजन, 23.3.40 पृ. 53 ।

* * * * * * * *

द्वितीय अध्याय

सत्याग्रह एवं सामाजिक परिवर्तन की अन्य प्रविधियाँ

व्यक्ति और समाज के कुछ स्थायी और शाश्वत तत्व होते हैं जिन्हें परिवर्तित करने की कभी आवश्यकता नही पड़ती है। उनकी उपयोगिता सर्वकालीन होती है। सत्य एवं अहिंसा ऐसे ही मूल्य है जिनको समाज से और जिनसे समाज को विलग नहीं किया जा सकता। ऐसे मूल्यों और सिद्धान्तों का सातत्य रहता है। परन्तु व्यक्ति और समाज की मनोवृत्तियों, जीवन पद्धतियों, चेतनाओं और सामाजिक संस्थाओं की रचना को कभी-कभी हम पूर्ण जीवन के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं पाते हैं। ऐसी स्थिति में समाज में व्यक्ति के व्यक्तितत्व, उसकी संस्कृति और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन लाना अनिवार्य हो जाता है- चाहे वह परिवर्तन सुधार के द्वारा हो अथवा पूर्णरुपेण तात्कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन से हो। यदि सामाजिक परिवर्तन आंशिक और क्रमिक रुप से होता है तो इसे साधारण परिवर्तन कहते है। परन्तु जब सामाजिक परिवर्तन चेतन रुप से, पूर्णरुपेण एकाएक कर दिया जाता है तो ऐसे परिवर्तन को क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है।[1] सृष्टि के आरम्भ से ही मानव अन्याय, शोषण, अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करता रहा है। मानव का यह संघर्ष वास्तव में व्यक्ति और समुदाय के विरुद्ध होने के साथ ही साथ सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों में, संस्थाओं व मूल्यों में परिवर्तन लाने के लिए भी होता रहा है। इन परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक परिवर्तन की प्रविधियों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वह जो हिंसा पर आधारित है जिसके अन्तर्गत आतंकवाद, क्रांति व मार्क्सवाद की प्रविधि को रखा जा सकता है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत अहिंसा पर आधारित पद्धतियां है जिनमें संसदीय एवं संवैधानिक उपायों के रुप में संविधानवाद के अतिरिक्त सत्याग्रह प्रमुख प्रविधि है।

गांधी दर्शन में सत्याग्रह को सामाजिक परिवर्तन की पद्धति या शस्त्र के रुप में ही स्वीकार किया गया है। गांधी जी की दृष्टि में सामाजिक परिवर्तन लाने की वास्तविक शक्ति न तो हिंसा में है और न कानून पर आधारित दंड शक्ति में है।

समाज में स्थायी और वास्तविक परिवर्तन अहिंसा, प्रेम और करुणा पर आधारित सत्याग्रह पद्धति से ही लाया जा सकता है। आचार्य विनोबा ने इस पद्धति को 'तीसरी शक्ति' कहा है। इस पद्धति के माध्यम से होने वाले समग्र परिवर्तन को 'सर्वोदय' की संज्ञा दी गयी। इस सम्बन्ध में डा. राममनोहर लोहिया का विचार है कि सत्याग्रह की पद्धति प्रचलित होने के पूर्व, विश्व संघर्ष की केवल दो विधियों से परिचित था- संसदीय एवं विद्रोहात्मक। परन्तु गांधी ने संघर्ष के साधन के रुप में सत्याग्रह की अवधारणा का प्रतिपादन कर मानव जाति को एक तीसरे एवं महत्वपूर्ण प्रभावशाली शस्त्र से सुसज्जित कर दिया।[2] लोहिया के शब्दों में- "विश्व में पहली बार सविनय अवज्ञा रुपी शस्त्र जिसका व्यवहार सीमित व व्यक्तिगत रूप में होता रहा था, उसको गांधी ने सम्पूर्ण मानव जाति के हाथों समर्पित कर दिया।[3] वस्तुतः गांधी दर्शन में समाज परिवर्तन की प्रक्रिया तथा सत्याग्रह की प्रक्रिया एक प्रकार से समानार्थक है।

इस सन्दर्भ में महादेव प्रसाद का मंतव्य है कि गांधी जी ने अहिंसा का अवधारण एव प्रयोग सामाजिक क्रान्ति की सफल वैज्ञानिक प्रविधि के रुप में किया, नवीन सांस्कृतिक एव राजनीतिक आर्थिक आधारों के अनुरुप समाज के पुनः संरेखण के लिए, एक आर्थिक वर्ग से दूसरे के हाथों में शक्ति के हस्तान्तरण के लिए एवं अपनी वेदियों से पुराने देवताओं को स्खलित करने के लिए, दूसरे शब्दों में कहे तो एक नवीन प्रत्यय पर आधारित नवीन समाज व्यवस्था के प्रवर्तन के लिए, मार्क्सीय शब्दावली में वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज की स्थापना के लिए। सच कहा जाय तो गांधी जी ने अहिंसात्मक क्रांति की प्रविधि के प्रयोग के द्वारा एक ओर तो प्राच्यवेत्ताओं के अहिंसाविज्ञान का विकास किया, दूसरी ओर कम्युनिज्म की विसंगतियों को दूर करने का प्रयास किया।[4] वस्तुतः गांधी जी अपने समय की स्थापित सामाजिक संस्थाओं और उनकी मान्यताओं से असंतुष्ट थे। सर्वप्रथम, दक्षिण अफ्रीका में उन्हें रंगभेद-नीति, उपनिवेशवाद, पूँजीवाद के शोषण और अत्याचार का कटु अनुभव हुआ। फिर आधुनिक सभ्यता के नाम पर प्रजातंत्र, कानून, अंग्रेजी चिकित्सा, भारी मशीनी-सभ्यता के नाम पर उत्पीड़न और शोषण से भी उनका हृदय कराह

उठा था। इसी प्रकार भारतीय समाज की छुआछूत नीति, शराबखोरी, जाति-प्रथा, नारी के प्रति कठोर दृष्टि, धर्म के नाम पर चलने वाले अन्याय और शोषण तथा अंग्रेजी शिक्षा से भी वे क्षुब्ध हो चुके थे। वर्तमान समाज में उन्हें व्यापक रुप से शोषण का दर्शन हुआ। उनके अनुसार शोषण का अर्थ केवल किसी को अपने अधिकारों से वंचित करना ही नहीं बल्कि चेतन रुप से उन प्रवृत्तियों और मापदंडो की स्थापना करना है जिससे समाज में सशयपूर्ण मूल्य को गौरव मिलता है। ऐसे मूल्यों के कारण समाज में कलह, प्रतियोगिता, घृणा और पाशविकं शक्तियों को बढ़ावा मिलता है।[5] शोषण के अंतर्गत व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच तथा समाज और समाज के बीच में चलनेवाले सभी प्रकार के शोषण आ जाते है।[6] गाधी के समाज-परिवर्तन का लक्ष्य शोषण पर आधारित संस्थाओं का उन्मूलन कर एक आदर्श समाज की रचना करना है। वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते है जिसका आधार अहिंसा हो, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा सुरक्षित हो तथा आपस में सभी के बीच प्रेम और सहयोग की भावना हो। इस अहिसक समाज को उन्होंने सर्वोदय-समाज की संज्ञा दी। इस प्रकार गांधी के समाज-परिवर्तन का लक्ष्य सर्वोदय समाज की स्थापना है, केवल अंग्रेजी सत्ता का उन्मूलन नहीं। श्री जयप्रकाश नारायण के शब्दों में "सर्वोदय समाज उस समाज की कल्पना थी जिसमें शोषण नहीं होगा, राज्य जितना हो सके कम से कम कार्य कर सकेगा और जनता अपनी सुरक्षा स्वयं करेगी। यह एक आत्म-नियंत्रित समाज होगा।"[7] गाधी जी उपरोक्त सर्वोदय समाज की रचना के लिए सत्याग्रह पद्धति का प्रयोग करते है।

गांधी-दर्शन में सबसे अधिक प्रमुखता उनके समाज-परिवर्तन के सिद्धान्त को मिली है, जिसने केवल भारत को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व को आकर्षित किया है। सामाजिक परिवर्तन की पद्धति के रूप में सत्याग्रह की सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित है उनके सिद्धान्त की यह विशेषता है कि यह समाज के किसी एक पहलू के परिवर्तन पर बल नहीं देकर उसके समस्त पहलुओं के परिवर्तन पर बल देता है। किसी भी सामाजिक व्यवहार के मुख्यतः तीन पहलू होते है- व्यक्तित्व,

समाज और संस्कृति।[8] व्यक्तित्व का अर्थ है कि व्यक्ति सामाजिक जगत में अपने को किस प्रकार सम्बंधित करता है। समाज से तात्पर्य समाज के विभिन्न समुदायों और संस्थाओं के आपसी सम्बन्ध से है। जैसे जाति, वर्ग, गोत्र, समुदाय इत्यादि। इसके अंतर्गत उन पद्धतियों का विचार आता है जिसके द्वारा आर्थिक, राजनैतिक और सामजिक संस्थाएँ एक दूसरे के साथ व्यवहार करती है। संस्कृति से सांकेतिक तंत्रों का बोध होता है। जिसमें समाज के सदस्य भाग लेते हैं। यह मानव के चरम मूल्यों को परिभाषित करता है तथा उचित-अनुचित का सिद्धान्त निरुपित करता है। इसके अंतर्गत धर्म और नीति सभी आ जाते हैं। फ्रायड व्यक्तित्व परिवर्तन पर बल देते हैं तो कार्लमार्क्स समाज अर्थात आर्थिक संस्थाओं के परिवर्तन पर। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जैसे कलाकार, जिनका यह दावा है कि केवल मूल्यों में परिवर्तन हो जाने से अन्य सभी अंगों में परिवर्तन हो जाता है। जो व्यक्तित्व-परिवर्तन पर बल देते हैं वे परिवर्तन के लिए शिक्षा और मनोचिकित्सा के लिए तर्क देते हैं, जो समाज-परिवर्तन पर बल देते हैं वे आर्थिक क्रांति, तकनीकी विकास और राजनैतिक रचना में परिवर्तन पर बल देते हैं तथा जो सांस्कृतिक परिवर्तन पर बल देते हैं वे शिक्षा के द्वारा मूल्य परिवर्तन, समाचार-पत्र द्वारा विचार-परिवर्तन तथा धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन को समाज-परिवर्तन का साधन मानते हैं।[9] परन्तु ये सभी सिद्धान्त एकांगी हैं। समसामयिक विचारकों में कॉम्ते, मेकियावेली, हेगेल, शोपेनहावर, मार्क्स तथा फ्रायड-सभी के सिद्धान्तों के द्वारा समाज के आंशिक परिवर्तन पर ही प्रकाश पड़ता है। गांधी ने संपूर्ण समाज के अखंड परिवर्तन पर बल दिया है जिसे उन्होंने सर्वोदय की संज्ञा दी है। उनके अनुसार समाज खंड-खंड कर परिवर्तित नहीं होता।[10]

सत्याग्रह सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें समाज परिवर्तन के लक्ष्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता का होना भी अनिवार्य है।[11] यह गांधी जी के साधन-साध्य की एकता के सिद्धान्त का निष्कर्ष है। इसीलिए जहाँ कार्ल मार्क्स उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंसक साधन की छूट दे सकते हैं वहाँ गांधी समाज-परिवर्तन के लिए अहिसक और शांतिमय साधन को ही अपनाते

है। इसीलिए उनका मार्ग 'अहिंसक क्रांति का मार्ग या जेम्स डब्लू डगलस के शब्दों में "नीरव क्रांति[12] है। तीसरी विशेषता इस सिद्धान्त की है कि यह परिवर्तन की द्वैत प्रणाली में विश्वास करता है[13] अर्थात् समाज परिवर्तन में परिवर्तन का संचालक और परिवर्तन की विषयवस्तु (व्यक्ति, समाज, राज्य इत्यादि) दो तत्व होते हैं। इसलिए वास्तविक परिवर्तन के लिए परिवर्तक और परिवर्त्य-दोनों में परिवर्तन होना चाहिए। गांधी ने अहिंसक प्रतिकार में सत्याग्रही और प्रतिपक्षी दोनों के हृदय-परिवर्तन की बात की है। दुर्भाग्यवश आधुनिक समाज में परिवर्तकों की संख्या में कमी नहीं है। परन्तु ये अपने को शुद्ध करना नहीं चाहते। केवल समाज के व्यक्तियों व सस्थाओं को शुद्ध करने की कोशिश करते है। परिणामस्वरुप समाज की बुराईयों में सुधार नहीं हो पाता है।

गांधी जी के समाज परिवर्तन का सिद्धान्त मध्युगीन दार्शनिकों की यथास्थितिवाद से भिन्न है। यह समाज की संस्थाओं में मानव की स्वतंत्र बुद्धि और प्रयत्न के द्वारा परिवर्तन संभव मानता है। विकासवादियों की भांति गांधी यह मानते हैं कि समाज का परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। विश्व में अहिंसा का नियम व्याप्त है। समाज इसी नियम के कारण आगे बढ़ता है। आगस्ट कॉम्ते भी यह मानते हैं कि विश्व या प्रकृति का अपना नियम है उसी नियम के अनुकूल एक-एक सोपान से गुजरने के बाद समाज आगे बढ़ता है। समाज का विकास ईश्वरवादी स्थिति से वैज्ञानिक स्थिति की ओर होता है।[14] हर्बर्ट स्पेंसर भी समाज के विकास को क्रमिक विकास ही मानते हैं जो विश्व प्रयोजन के कारण होता है और जिस पर मानव प्रयत्न का कोई नियंत्रण नहीं होता है।[15] गांधी इस अर्थ में विकासवादी हैं कि वे भी यह मानते हैं कि संसार की समस्त वस्तुएं ईश्वर के प्रयोजन से ही परिचालित होती है और क्रमिक रूप से समाज का विकास होता है। परन्तु ये विकास के साथ-साथ मानव के प्रयत्न के नियत्रण को स्वीकार करते हैं। फिर एक मात्र विकास की क्रिया के द्वारा ही समाज धीरे-धीरे आगे नहीं बढता है बल्कि क्रांति की प्रक्रिया से यह एकाएक बहुत दूर आगे निकल जाता है।[16] अतएव वे समाज-परिवर्तन में विकास और क्रांति- दोनों को आवश्यक मानते हैं। पाश्चात्य-समाजवादी और सुधारवादी

विचारकों की भांति[17] गांधी समाज की बिगड़ी हुई परिस्थितियों के आंशिक सुधार में भी विश्वास करते हैं। भारतीय समाज से अज्ञान, दासता, गरीबी, नारी के पिछड़ेपन, शराबखोरी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं तथा मजदूरों के संगठन पर बल देते हैं। परन्तु गांधी को मात्र सुधारवादी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उन्होंने समाज-रचना और मूल्यों में आमूल परिवर्तन की बात की है। 'प्रजातंत्र', 'सभ्यता', 'स्वराज्य', 'धर्म', इत्यादि के अर्थो में उन्होंने मौलिक रुप से परिवर्तन कर डाला है जिसे आंशिक सुधार नहीं कहकर समग्र-परिवर्तन कहा जायेगा। फिर सर्वोदय समाज एक आदर्श है तथा नये समाज की कल्पना और सत्याग्रह एक नवीन पद्धति का आविष्कार है ही।

फ्रांसीसी अराजकतावादियों की भाँति गांधी समाज-परिवर्तन के पथ में राज्य और सरकार को बाधक मानते हैं क्योंकि राज्य के संगठन का आधार हिंसा[18] या शक्ति है।[19] अत: राज्य को अधिक शक्ति देना उचित नहीं है। परन्तु यदि राज्य या सरकार का अर्थ आत्म नियंत्रित व्यवस्था हो तो फिर वह प्रबुद्ध अराजकता की ही अवस्था है।[20] गाँधी के अनुसार समाज-परिवर्तन राज्य यां सरकार के द्वारा नहीं बल्कि स्वयंसेवकों के द्वारा[21] या प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा ही हो सकता है। श्री जयप्रकाश नारायण के शब्दों में "हम स्वयंसेवकों की सबसे बड़ी गलती यह है कि हम देश के निर्माण और परिवर्तन का सबसे बड़ा भाग राजनीतिज्ञों, राज्य या सरकार पर छोड़ देते हैं।"[22] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि गाँधी शीघ्र ही राज्य का उन्मूलन करना चाहते थे। वे चाहते थे कि जब तक राज्य की आवश्यकता है तब तक वह रहे परन्तु उसके द्वारा शासन कम से कम हो। वे थोरो की इस मान्यता में विश्वास करते हैं कि सबसे उत्तम प्रशासन वह है जो सबसे कम शासन करता है। इसी प्रकार अराजकतावदियों की भाँति ही वे समाज-परिवर्तन में व्यक्ति की अंतरात्मा के आदेश, समाज-व्यवस्था के लिए नैतिकता के पालन, स्वशासन तथा ऐसे समाज पर वल देते हैं जो समता और स्वतंत्रता पर आधारित हो।[23] इसके अतिरिक्त विकेन्द्रित समाज-व्यवस्था, लोकनीति की स्थापना और नीचे से क्रांति के शुभारंभ में दोनों का दृढ़ विश्वास है। परन्तु इन समानताओं के आधार पर गांधी के विचार को

अराजकतावादी विचार नहीं कह सकते। जहाँ अराजकतावादी विचारक मुख्यत: अनीश्वरवाद, बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद, संहारवाद के समर्थक है तथा शोषक-शोषित का भेद करते हैं,[24] वहाँ गाँधी का सिद्धान्त धार्मिकता तथा निरपेक्ष नीति पर पर आधारित है।[25] गाँधी जी वर्ग, जाति, धर्म का संघर्ष नहीं चाहते। वे सभी के बीच सहयोग देखते हैं। अराजकतावादियों की भाँति तुरन्त राज्य को सामप्त करना उंनका उद्देश्य नहीं है।[26] इसलिए श्रीमती वॉनडूरांट, गोपीनाथ धवन, के इस विचार का ठीक ही खंडन करती है कि गॉधी राजनैतिक अराजकतावादी थे।[27] गाँधी कार्ल मार्क्स के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि आर्थिक समानता के अभाव में रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती है।[28] परन्तु वे इस विचार से असहमत हैं कि आर्थिक समानता हिंसा या अहिंसा किसी भी साधन से लाई जाय। गाँधी अहिंसक साधन के द्वारा ही परिवर्तन लाना चाहते हैं क्योंकि हिंसा के आधार पर कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता।[29]

यह स्पष्ट है कि गांधी के समाज-परिवर्तन के सिद्धान्तों को न तो समाजवादी सिद्धान्त कह सकते हैं, न अराजकतावादी और न विकासवादी। वस्तुत: यह एक समन्वयवादी सिद्धान्त हैं जिसमें उपर्युक्त वादों के उत्तम तत्व विद्यमान है। इसीलिए श्रीमती वॉडूरांट कहती है- "गाँधी जी को अपने को यथास्थितिवादी, उदारवादी, समाजवादी या अराजकतावादी के रुप में वर्गीकृत करने का धैर्य नहीं होगा। वे ये सभी थे और इनमें से कुछ भी नहीं थे। क्योंकि उन्होंने अपने गहरे क्रांतिकारी स्वरुप को कभी नहीं खोया।[30] कुछ विचारकों का यह कहना कि गाँधी परम्परावादी थे, भी गलत है। वस्तुत: उन्होंने अपने सिद्धान्त में परम्परा और आधुनिकता का समन्वय किया है।[31] अब हम इन विशेषताओं को सामने रखते हुए गॉधी के सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं पर एक-एक कर विचार करेंगे।

समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया के अंतर्गत खंडनकारी और विधायक दो प्रकार के विचार हैं। खंडनकारी पक्ष में विशेष रुप से आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति और अन्य हिंसक क्रांतियों की आलोचना का विचार है। विधायक पक्ष में मुख्य रुप से तीन सिद्धान्त हैं: 1. नैतिक साधनों से व्यक्ति के चैतन्य का परिवर्तन, 2. रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय से समाज-रचना का परिवर्तन तथा 3. सत्याग्रह से सभी प्रकार के मतभेदों और संघर्षो का निराकरण।

परिवर्तन की पद्धति के रुप में सर्वप्रथम हम हिंसा पर आधारित पद्धति का विवेचन करेंगे। वस्तुत: अमेरिकन, रुसी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश और चीनी क्रांतियों के पीछे हिंसा जुड़ी हुई है। अतएव कुछ लोग इस निष्कर्ष पर आये है कि हिंसा के बिना क्राति हो ही नहीं सकती है। परन्तु गाँधी इसकी आलोचना. करते हैं। उनके अनुसार चाहे फ्रांस की राज्य-क्रांति हो या रुसी लालक्रांति, जहाँ तक उनमें शस्त्र और हिंसा का सहारा लिया गया वहाँ तक उसे हम क्रांति की संज्ञा नही दे सकते हैं। किसी भी सच्ची क्रान्ति के लिए स्वतंत्रता समान रुप से सबके लिए वांछनीय है।[32] वास्तविक क्रांति तब होती है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं मालिक होता है।[33] हिंसा के द्वारा लाये हुए परिवर्तन में व्यक्ति की स्वतंत्रता कायम नहीं रह सकती है। इतिहास इस बात का साक्षी है, उदाहरण के लिए फ्रांस की क्रांति में राजा लुई सोलहवें के स्थान पर सशक्त नेपोलियन आये। इंग्लैंड में चार्ल्स प्रथम के स्थान पर क्रूर क्रामवेल आये। रूस में जार के स्थान पर उससे भी कठोर स्टालिन आये। इसी प्रकार जर्मनी और इटली जैसे देशों में भी समान घटनाएँ हीं घटी। इन व्यक्तियों के हाथ में जनसाधारण की स्वतंत्रता पहले से भी अधिक खंडित हुई और जनता के हाथों में राज्य कहीं भी नहीं आया। इससे स्पष्ट है कि हिंसा के द्वारा व्यक्ति स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। हिंसा व्यक्ति की गरिमा और नैतिकता का आदर नहीं कर सकती। वहाँ नैतिकता स्वार्थ-साधन की वस्तु बन जाती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। राजनैतिक शक्ति ठगों और धूर्तो के हाथों में चली जाती है। इसीलिए गाँधी ने कहा- "एक सफल खूनी क्रांति का अर्थ है, समूह के दु:खों में वृद्धि करना क्योंकि इसमें उनके लिए पराये का ही शासन रह जाता है।"[34] परन्तु अहिंसा में दुर्बल व्यक्ति भी बिना दुर्बलता का अनुभव किये भाग लेते हैं। अहिंसक क्रांति का अनिवार्य परिणाम सामूहिक रचना और संगठन है।[35] गाँधी क्रांति के लिए जनता का सक्रिय सहयोग आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार "वह आंदोलन जिसमें जनता सक्रिय रुप से भाग न ले जन-समूह का कल्याण नहीं कर सकता।[36]

गांधी यह मानते थे कि हिंसा के वातावरण में क्रांति हो ही नहीं सकती। क्रांति के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता और सुधार की तत्परता अनिवार्य है। यदि समूह

को बिना सुधार की आवश्यकता का ज्ञान कराये हम दबाव से उनमें परिवर्तन लाना चाहेंगे तो इसके परिणामस्वरुप उसमें प्रतिहिंसा की प्रतिक्रिया होगी और वह दूसरे की सहायता से प्रतिशोध लेने के लिए उतारु रहेगा।[37] फिर इस ·प्रकार से हिंसा–प्रतिहिंसा तथा परतंत्रता का चक्र चलता रहेगा तथा क्रांति नहीं हो सकेगी। खूनी क्रांति और शीत–युद्ध में विश्वास रखने वालों का सबसे बड़ा तर्क है कि खूनीं क्रांति बहुत ही तीव्र होती है। अत: थोड़ी देर के लिए कष्ट ही क्यों न उठाना पड़े, यह अहिंसा से उत्तम है। अहिंसक क्रांति देर से होती है और उसमें बहुत दिनों तक घुलघुल कर दु:ख भोगना पड़ता है। वर्षो दु:खों में रहने से यह उत्तम है।[38] परन्तु जार्ज लेकी ने बहुत ही उत्तम ढंग से इस विचार का खंडन किया है।[39] उनके अनुसार माओ ने यह स्वयं स्वीकारा है कि चीन में उपनिवेशवाद के अंत करने में एक सौ वर्षो का समय लगा और दस लाख व्यक्तियों की हत्या की गई।[40] वस्तुत: हिंसक क्रांति की शीघ्र सफलता एक भ्रम है। इसकी तुलना में अहिंसक क्रांति की सफलता को देर की सफलता नहीं कही जा सकती। इसलिए गॉधी ने कहा– "अहिंसक क्रांति सबसे तीव्र क्रान्ति है।"[41] यह सबसे उत्तम क्रांति है।[42] हिंसक क्रांति की तुलना में इसमें हत्या न्यूनतम होती है, आर्थिक वस्तुओं का विनाश कम होता है जबकि हिसक क्रांति में केनेथ वोलडिंग के अनुसार आर्थिक विकास दो पीढ़ी पीछे चला जाता है।[43] अहिंसक क्रांति में हिंसक क्रांति की तुलना में प्रतिपक्षी के चातुर्य का परिणाम कम आता है जबकि हिंसक क्रांति में जान से हाथ धोना पड़ता है। इसी प्रकार अहिंसक क्रांति में समाज के मूल्यवान तंतुओं को कम खोना पड़ता है जिससे पुनर्निर्माण में सुविधा होती है।[44] यदि क्रांति से समाज के विकास और पुनर्निर्माण का तत्व ही समाप्त हो जाय तो वह क्रांति किस काम की? अहिंसक क्रांति से एक प्रकार से हमें शिक्षण मिलता है। हममें सत्य , न्याय और नि:स्वार्थता के लिए जीने की आदत हो जाती है और इनके लिए दु:ख सहने की तत्परता रहती है। अत: जो कोई इसका उपयोग करता है वह लाभान्वित होता है। आर्थरवास्कोव के अनुसार इसके द्वारा व्यक्ति को इस बात की शिक्षा मिलती है कि रचनात्मक अस्तव्यस्तता ध्वंसात्मक अस्तव्यतता से उत्तम है।[45] हिंसक क्रांति में केवल हिंसा की ही शिक्षा दी जाती है। परन्तु जब स्वतंत्रता मिल जाती है तब भी शासकों के अन्याय से जूझने

की आवश्यकता पड़ती ही है। यदि उस समय भी जनता हिंसा में संलग्न हो जाय तो देश का क्या होगा? परन्तु अहिंसक क्रांति से जनता में अन्यायपूर्ण शासन के विरुद्ध लड़ने की एक शक्ति आ जाती है जिसमें संहार के बिना शासन की बुराइयों का अन्त कर दिया जाता है।

अत: स्पष्ट है कि खूनी क्रांति को समाज-परिवर्तन की उत्तम प्रक्रिया नहीं माना जा सकता। हिंसा के द्वारा जो क्रांति होती भी है वह पूर्ण क्रांति नहीं आंशिक क्रांति होती है।[46] पूर्ण क्रांति सरकार और संविधान के बदलने से नहीं, बल्कि समाज-व्यवस्था के पुनर्निमाण से आती है।[47] इसलिए गांधी और विनोबा ने हिंसक और खूनी क्रांति को समाज-परिवर्तन के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया। श्री जयप्रकाश नारायण इसे "पैलेस रिवोल्यूशन" मानते हैं "सोशल रिवोल्यूशन" नहीं। इसके द्वारा क्रांति का ढोंग रचाकर जनता की आंखों में धूल झोंकी जाती है। यह इस अर्थ में उचित है कि समाज की पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकती है परन्तु जिस लक्ष्य के लिए क्रांति की जाती है उसमें यह असफल हो जाती है।[48]

सामाजिक परिवर्तन की मार्क्सवादी पद्धति– मार्क्स ने शास्त्रीय ढंग से सपूर्ण क्रांति का वर्णन किया है। उनकी क्रांति का आधार है-वर्ग-संघर्ष और नैतिक-सापेक्षवाद का सिद्धान्त। उन्होंने कहा है कि अबतक का संपूर्ण समाज वर्ग संघर्ष का इतिहास हैं। 'उत्पादन शक्ति' और 'उत्पादन संबंधों' में सदा से विरोध रहा है जिसके कारण मजदूर और पूँजीपति वर्गो के बीच संघर्ष चलता रहता है। जब संघर्ष हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है और राज्य-सत्ता अपने हाथों में ले लेता है।[49] इस प्रकार मार्क्स और ऐंजिल्स ने सभी पूँजीपतियों के विरुद्ध हिंसा को क्रांति के लिए आवश्यक माना है। परन्तु गाँधी के अनुसार हिंसा के आधार पर कोई स्थायी और सुदृढ़ समाज नहीं बन सकता है।[50] वर्ग-संघर्ष अनिवार्य नहीं।[51] मार्क्सवाद की प्रक्रिया में कहीं भी क्राति का लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता।यदि मान लिया जाय कि मजदूर वर्ग के हाथ में शासन आने से क्रांति होगी तो यह कुछ वर्गो तक ही सीमित रहेगी, सम्पूर्ण जनता का तो इससे लाभ नहीं होगा। दूसरी बात यह कि यदि राज्य-विहीन समाज की स्थापना मार्क्सवाद का उद्देश्य है तो फिर

कुछ काल तक केवल मजदूरों के हाथों में सत्ता सौंपने की क्या आवश्यकता है? इसका अर्थ केवल प्रतिशोध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता है। फिर मार्क्सवाद उत्पादन के साधनों और राज्य-व्यवस्था दोनों के सत्ता के हाथों में केन्द्रित कर देता है। यही तो पूँजीवादी व्यवस्था का भी सार है। फिर अर्थव्यवस्था और राजनीति में क्रांति कैसे आ सकती है? इसमें क्रांति तो तभी आ सकती है जब सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो। मार्क्सवाद वस्तुतः व्यक्ति के विचार को केवल अर्थ और राज्य संगठन के ढाँचे में ढाल देना चाहता है। परन्तु क्रांति के लिए मानव के संपूर्ण मनोविज्ञान को समझना अनिवार्य है। जब तक संपूर्ण विचारों, मूल्यों और सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं होता तब तक क्रांति नहीं हो सकती। फिर मार्क्सवाद के प्रचार के लिए भी तो विचार-प्रचार की आवश्यकता पड़ती ही है। मार्क्सवाद की यह मान्यता कि केवल समाज रचना में बाहरी परिवर्तन कर देने से क्रांति होगी- भ्रम है। पूर्ण क्रांति के लिए व्यक्ति को भी बदलना होगा, उसकी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखना होगा और क्रांति की प्रक्रिया को बाँधकर नहीं, उन्मुक्त रखना होगा। उसमें हर व्यक्ति का सहयोग होगा।

गांधी के प्रमुख अनुयायी विनोबा ने साम्यवादी क्रांति की कटु आलोचना की। उनके अनुसार यह एक 'आत्यंतिक निष्ठा'[52], 'आसक्ति का विचार'[53] व 'रचनाग्राही-क्रान्ति-निष्ठा'[54] है। इसमें नैतिकता का आधार नहीं है। जिस प्रकार "माता की पगली ममता जो त्वरित परिणाम के चक्कर में पड़कर स्थायी परिणाम पर ध्यान नहीं देती[55] उसी प्रकार हिंसक क्रान्ति भी दूर दृष्टि से काम नहीं करती। यह एक आत्मघातक सिद्धान्त भी है क्योंकि यह बुद्धिपूर्वक हृदय परिवर्तन का विरोध नहीं कर सकता जो इस बात से स्पष्ट है कि मार्क्स के सिद्धान्त को पढ़कर ही साम्यवादियों का हृदय परिवर्तन हुआ।[56] साम्यवाद एक अर्थ में जातिवादी सिद्धान्त है जो हर गांव, प्रांत और देश को टुकड़े-टुकड़े कर देता है जिससे झगड़े चलते रहते है।[57] इनकी दृष्टि में पूँजीपति चोर तथा हिंसक है परन्तु चोरी और हिंसा का प्रतिकार ये चोरी और हिंसा के आधार पर ही करते हैं जिससे चोरी घटन के बजाय और बढ़ती है।[58] इसलिए महात्मा बुद्ध ने कहा है बैर को निर्वैरता से क्रोध को अक्रोध से तथा घृणा को प्रेम से जीतो।[59]

वस्तुतः साम्यवाद परिवर्तन की प्रक्रिया के लिए लंबे चौड़े संघर्ष का तत्वज्ञान बुनता है जिसमें कोई सार नहीं है। यह "पीलिया वाले की दृष्टि है" जिसे संघर्ष के सिवा दुनिया में कुछ सूझता ही नहीं है। शायद इनके लिए बच्चों का माँ के स्तन से दूध प्राप्त करना भी संघर्ष पर ही आधारित होगा।[60] वस्तुतः यह एक 'आत्मशून्य विचार है'[61] जिसमें व्यक्ति के स्वातंत्र्य का कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। फिर ऐसे विचार से क्रांति कैसे हो सकती है? क्रांति एक मानसिक समस्या है जिसका समाधान विचार बदल कर[62] ही किया जा सकता है, जबरदस्ती नहीं। कोई भी सद्विचार जबरदस्ती नहीं फैलाये जा सकते।[63] विनोबा यह स्वीकार करते हैं कि साम्यवादियों की दृष्टि भी करुणा की ही दृष्टि है। वे गरीबी मिटाना चाहते हैं। गरीबों के दुःख मिटाने की उनकी तीव्र इच्छा भी है। परन्तु उनकी गलती यह है कि वे इसके लिए हिंसा को साधन मानते हैं।[64] हिंसा से तो प्रतिहिंसा ही होती है, इसके कारण मनुष्यता का मूल्य व प्रतिष्ठा घटती है।[65] अतः क्रांति तभी हो सकती है जब इसके साथ अहिंसा जुड़ी हो। हिंसा कभी भी बहुजन समाज का शस्त्र नहीं बन सकती है। यह तो 'शस्त्र-शास्त्र-धनिक अल्पसंख्यायतन पद्धति'[66] है, जिसमें "जो हम हिंसा के आधार पर प्राप्त करते है उसे शस्त्र या हिंसा के आधार पर संभालना पड़ता है।[67]" इतना ही नहीं शस्त्र-धारण करने के लिए बहुसंख्यक को अल्पसंख्यकों के पास शिक्षा के लिए जाना पड़ता है। उनकी स्वतंत्रता वही खंडित हो जाती है और सदैव उनका शोषण[68] होता रहता है।

वास्तव में साम्यवाद पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि यह पूँजीवाद के चार सिद्धान्तों- केन्द्रीकरण, यंत्र-पूजा, शस्त्र-निष्ठा और शोषण'-में से केवल शोषण को मिटाने का प्रयत्न करता है और बाकी तीन ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं। फिर केन्द्रीकरण, यंत्र-पूजा तथा शस्त्र-पूजा की उपस्थिति में शोषण को भी दूर करना असंभव है। इस प्रकार विनोबा इस निष्कर्ष पर आते है कि साम्यवाद का बहुजन-हित-वाद खोखला है। इसमें हितैक्य की दृष्टि नहीं हित-विरोध की दृष्टि है। यह समूह को "समत्वयुक्त और विवेकशील दृष्टि"[69] सिखाने के बदले उन्हें आवेश में डालता है जहाँ क्रांति असंभव है। विनोबा हिंसक

और साम्यवादी क्रांति की आलोचना मूलतः गाँधी के विचार के आधार पर ही करते हैं। वे क्रांति के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता, सहयोग, सत्ता और धन पर विकेन्द्रीकरण स्वीकार करते है तथा विचार-परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं।

संवैधानिक पद्धति- समाज परिवर्तन का दूसरा तरीका कानून, राज्यसत्ता अथवा दंड-शक्ति है जिसे संवैधानिक पद्धति कहा जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच कानून और राज्य सत्ता के द्वारा समाज परिवर्तन हो सकता है? गांधी ने निरपेक्ष रुप से इसका विरोध तो नहीं किया है, परन्तु इसके गौणत्व को स्वीकार किया है। कानून के मुख्यतः दो कार्य है- एक तो समाज की तात्कालिक स्थिति में परिवर्तन लाना और दूसरा व्यक्ति को न्यायिक सुरक्षा प्रदान करना। गाँधी जी अंग्रेजी राज्य सत्ता और कानून को भारत के हित में नहीं बल्कि अँग्रेजो के व्यापारिक हित में मानते थे। अतः उन्होंने उन अंग्रेजी कानूनों का विरोध किया जिनसे भारत की जनता का शोषण होता था। अतः उनके सामने यह प्रश्न ही नहीं था कि अग्रेजी सत्ता कानून के द्वारा भारत में क्रांति लाने की कोशिश करेगी। परन्तु उनके इस कथन से कि "राज्य एक संगठित हिंसा की संस्था है," व "वास्तविक स्वराज्य व्यक्ति के सहयोग से होगा," यह सिद्ध होता है कि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि कानून के द्वारा क्रांति नहीं हो सकती है। शायद इसीलिए स्वतंत्रता के बाद उन्होंने कांग्रेस का विघटन कर उसे लोक-सेवक-संघ में परिणत करना चाहा। परोक्ष रूप से उन्होंने कहा भी था कि कानून तो एक दिशा-सूचक है। मुख्य चीज है समाज की मान्यता, नैतिकता और उसकी नई परिस्थितियों में आवश्यकता के पहचान करने की शक्ति। उन्होंने हिन्दू कानून के सम्बन्ध में लिखा कि "स्मृतियों के प्रतिबंधों के पालन की शक्ति कानूनी मान्यता से अधिक सामाजिक मान्यता के कारण आती थी। स्मृतियों में भी हम लोगों की भाँति परिवर्तन हुए थे, और उन्हें समाज शास्त्र की नई खोजों के साथ अभियोजित किया गया था। बुद्धिमान राजा नई परिस्थितियों में कानून की नई व्याख्या प्राप्त कर लेता था। अतएव स्मृति के वे श्लोक जो आपस में आत्म-विरोधी हैं अथवा हमारी नैतिक चेतना के विरोधी है, आसानी से तिरस्कृत किये जा सकते है[70] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि सामाजिक और नैतिक चेतना

का विकास कानून की तुलना में मुख्य है। कानून इनकी दासी है। फिर यह कल्पना करना कि बिना नैतिक और सामाजिक चेतना के विकास किए क्रांति होगी, गलत है। हिंद-स्वराज्य में तो उन्होंने यह भी बतलाया कि वकील लोग कानून के आधार पर न्याय दिलाने के बदले समाज को टुकड़े-टुकड़े करते हैं।[71] हाँ, कुछ इसके अपवाद अवश्य हैं। ऐसी स्थिति में कानून से न्याय पाने की उम्मीद भी बेकार है। यदि कानून के पीछे दण्ड शक्ति का बल है तो इसका पालन भय से ही होगा। और यदि कानून से भय शक्ति भी समाप्त हो जाती है, तो इसका पालन नहीं होगा। इस प्रकार कानून जनमानस पर ऊपर से लादा जाता है। इसके द्वारा जनसमूह की आंतरिक चेतना विकसित नहीं होती और आंतरिक चेतना के विकास के बिना क्रांति ही नहीं हो सकती। विनोबा कानून का विरोध नहीं करते। उनका इतना ही कहना है कि यदि बिना उचित वातावरण का निर्माण किए कानून बनता है तो उससे समाज दो पक्षों में विभाजित हो जायेगा और उनमें आपस में संघर्ष होगा।[72] फिर कानून का निर्माण भी तो कठिन परिस्थिति में ही होता है जिसका विरोध स्वाभाविक है।[73] अतः जब तक हम किसी विचार का अच्छी तरह से प्रचार नहीं करते, नैतिक वातावरण नहीं बनाते तब तक कोई उत्तम कानून भी नहीं बन सकता है।[74] यदि राजसत्ता के द्वारा उत्तम कानून बन भी जाता है तो कोई जरुरी नहीं है कि उसका प्रभाव जनता पर पड़े ही। जनता का काम अपने विचार से चलता है।[75] माता कानून के आधार पर बच्चों को दूध नहीं पिलाती; कानून के कारण ही चोरी करना लोग बुरा नहीं मानते।[76] वस्तुतः ये सभी धर्म-भावना के कारण होते हैं। अतएव धर्म भावना का विकास हुए बिना कोई मौलिक सामाजिक क्रांति संभव नहीं है। उदाहरणस्वरुप, बँटाईदारी, सीलिंग, सूद, विवाह और दहेज सम्बन्धी कानून पास तो हुए किन्तु अभी तक उनका कार्यान्वयन नहीं हो सका है। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को कानून से गलत करार दिया गया है किन्तु अभी भी अस्पृश्यता समाज में कायम है। इनसे जाहिर है कि कानून के द्वारा समाज-व्यवस्था में क्रांति नहीं लायी जा सकती है। श्री जयप्रकाश नारायण ने भी इसे स्वीकार किया।[77]

विनोबा का मतंव्य है कि कानून से जो चीज बनती है वह छोटी चीज बनती है। इससे महान् चीज नहीं बन सकती।[78] समाज-परिवर्तन और क्रांति महान् कार्य है।

वह इसके द्वारा कैसे संभव है? वास्तव में क्रांति जनमानस के हृदय में प्रवेश पाने से होती है।[79] इसलिए विनोबा भूमि के वितरण के लिए कानून का सहारा नहीं लेकर लोक-शक्ति, दान-शक्ति, प्रेम और करुणा की शक्ति का आह्वान करते हैं। उनका उद्देश्य यह है कि बिना कानून के भी ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया जाय कि भू-वितरण की समस्या अपने आप हल हो जाय।[80] वे ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें दंड-शक्ति की जरुरत ही नहीं पड़े। वे साम्यवादियों की उस पद्धति की आलोचना करते हैं, जहाँ परिवर्तन का कार्य शासन और कानून से आरंभ किया जाता है और व्यक्ति अपने परिवर्तन की बारी अंत में रखता है। विनोबा इससे भिन्न यह मानते हैं कि पहले परिवर्तन व्यक्ति को खुद के जीवन से करना चाहिए और इसकी समाप्ति सरकार या कानून से होनी चाहिए।[81] अतः परिवर्तन का मूल तत्व लोकमत है। कानून लोकमत पर मुहर के समान है। उसका वास्तविक मूल्य नहीं।[82] विनोबा वस्तुतः यहाँ भी गाँधी के विचार का ही स्पष्टीकरण नये संदर्भ में करते हैं। गाँधी के समान ही ये कानून को समाज का विभाजक मानते हैं। गांधी जी ने भी लोकमत को राज्य और सरकार के नियंत्रण का सबसे प्रमुख साधन माना था और विनोबा भी यह स्वीकार करते हैं। दोनों अंतिम रुप से यह स्वीकार करते है कि कानून, दंड शक्ति और राज्य सत्ता से क्रांति नहीं होती।

सामाजिक परिवर्तन की सत्याग्रह पद्धति– गांधी जी की सत्याग्रह पद्धति सत्य, प्रेम और करुणा पर आधारित अहिंसक प्रक्रिया है। यह गांधी जी कि इस मान्यता पर आधारित है कि क्रांति रक्तपात, वर्ग-संघर्ष और राज्य सत्ता के कानून से नहीं बल्कि जनसमूह के विचार और हृदय परिवर्तन से होती है। जब व्यक्ति की चेतना बदलती है, उसके मूल्य बदलते हैं तो फिर सामाजिक परिस्थिति का परिवर्तन हो जाता है। अतः क्रांति का आरम्भ व्यक्ति से और इसकी पूर्णता समाज-रचना परिवर्तन में होती है। इस प्रकार गांधीवादी क्रांति का अर्थ दोहरी क्रांति है जिसमें अंतर-वाह्य और मानवीय तथा सामाजिक दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं।[83] इतिहास से यह सिद्ध होता है कि अब तक समाज-परिवर्तन की दो ही प्रक्रियाएँ रही है– एक संतो और रहस्यवादियों की प्रक्रिया जिसमें व्यक्ति के नैतिक गुणों का विकास

ही एकमात्र समाज बदलने का साधन रहा है और दूसरा बुद्धिवादियों की प्रक्रिया जो केवल समाज रचना को बदल कर समाज में परिवर्तन लाना चाहते हैं। गांधी अपने विचार में रहस्यवादियों और बुद्धिवादियों का आपस में समन्वय करते हैं।[84] इनके अनुसार क्रांति में एक साथ दोनों प्रक्रियाएँ पायी जाती हैं। विनोबा ने इसे क्रांति की नैतिक प्रक्रिया[85] तथा संतों और साम्यवादियों की प्रक्रिया को नैष्ठिक प्रक्रिय[86] कहा है।

अब प्रश्न है कि यदि व्यक्ति और समाज दोनों को एक साथ बदलकर क्रांति लायी जा सकती है तो फिर पहले की प्रक्रिया क्या होगी- व्यक्ति बदलने की या समाज बदलने की? अर्थात् क्रांति का गतिशास्त्र क्या होगा? यदि व्यक्ति को पहले बदलना है तो वह किस प्रक्रिया से संभव है? फिर समाज को कैसे बदला जा सकता है? इस संदर्भ में गांधी के विचारों को तीन धारणाओं के आधार पर समझा जा सकता है- वे हैं हृदय-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन और स्थिति-परिवर्तन के सिद्धान्त।

हृदय परिवर्तन- व्यक्तित्व परिवर्तन की दृष्टि से हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त विश्व संस्कृति को गांधी की अपनी मौलिक देन है। सामन्यत: हृदय परिवर्तन का सम्बन्ध उन सांवेगिक घटनाओं से है जो व्यक्ति के जीवन दर्शन में एकाएक पूर्ण और सर्वांगीण परिवर्तन ला देती है।[87] सामान्यत: मनोविज्ञान में हृदय परिवर्तन को कई अर्थो में लिया गया है। संकीर्ण अर्थ में हृदय-परिवर्तन का अर्थ है धार्मिक या ईश्वर विश्वास में परिवर्तन।[88] इस अर्थ में हमारे धार्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विश्वास जो चेतना के दूर प्रदेशों में होते हैं, केन्द्रीय स्थान धारण कर लेते हैं और यह धार्मिक लक्ष्य[89] हमें स्वाभाविक रुप से शक्तिपुंज प्रदान करता है। प्रो. लियूबा हृदय-परिवर्तन में ईश्वर विश्वास के बदले नैतिक विश्वास की चर्चा करते है।[90] जे.बी. प्राट् के लिए यह प्राकृतिक मानवीय घटना है जो अति प्राकृतिक हस्तक्षेपों से तथा ईश्वरीय-पूर्व आस्थाओं से स्वतंत्र है।[91] इन अर्थो से यह प्रकट होता है कि मनोविज्ञान में हृदय-परिवर्तन एक-पक्षीय तथा वैयक्तिक घटना है। गॉधी के हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त इनसे भिन्न है। गांधी का हृदयपरिवर्तन मस्तिष्क शोधन से भिन्न है। जहाँ मस्तिष्क शोधन में व्यक्ति के सामने कोई स्वतंत्रता नहीं रहती है वहॉ हृदय-परिवर्तन में व्यक्ति स्वतंत्र रहता है।[92] इसी प्रकार इस क्रिया में चिंतन के साथ भावावेग और

क्रिया का समावेश होता है।[93] क्योंकि जब तक संपूर्ण मूल्य बोध, दर्शन, आस्था और आचरण नहीं बदलता तब तक स्थायी रूप से हृदय-परिवर्तन नहीं होता है। यह क्रिया फ्रायड के व्यक्तित्व परिवर्तन के सिद्धान्त से भी भिन्न है। फ्रायड के अनुसार अंतरात्मा या विवेक के द्वारा अहं के ऊपर दमन किया जाता है। मानव-परिवर्तन में इसी विवेक के दमन को शिथिल कर दिया जाता है। परन्तु गाँधी के हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त में विवेक का शिथिलीकरण नहीं बल्कि उसे सुदृढ़ किया जाता है।[94] फ्रायड के सिद्धान्त में मानस-परिवर्तन मानसिक दृष्टि से रुग्ण व्यक्ति का किया जाता है परन्तु गांधी का हृदय-परिवर्तन स्वस्थ-मानस की घटना है।

गांधी हृदय परिवर्तन के द्विकीय-प्रणाली में विश्वास करते हैं। अर्थात् इस प्रणाली में परिवर्तक और परिवर्तित दोनों का हृदय-परिवर्तन होता है। साथ-ही-साथ यह केवल वैयक्तिक जीवन के परिवर्तन की ही प्रणाली नहीं है बल्कि समूह का भी परिवर्तन इस प्रक्रिया के द्वारा होता है।[95] गाँधी ने विशेष रुप से इस प्रणाली का प्रयोग समूह के लिए ही किया था। इस प्रणाली के द्वारा जन-मानस में आमूल परिवर्तन शान्ति, अहिंसा, प्रेम तथा आत्म-पीड़न के द्वारा लाया जाता है जिसे सत्याग्रह की प्रणाली भी कहते हैं। उन्होंने कहा है- "सत्याग्रह एक हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। मैं इस बात के लिए पूर्ण आश्वस्त हूँ कि सुधारक अपने-अपने मतों को समूह पर लादने की कोशिश नहीं करते हैं। वे हृदय को छूने की कोशिश करते हैं।"[96] अतः हृदय-परिवर्तन की प्रणाली दूसरे के हृदय को संस्पर्श कर बदलने की प्रणाली है। हृदय को संस्पर्श करने की दो पद्धतियाँ हो सकती है- एक बौद्धिक चिंतन, मनन और आचरण की अनवरत प्रक्रियाओं के द्वारा विचार को भावना का रुप देना और दूसरा आत्म-पीड़न के द्वारा प्रतिपक्षी के ऊपर प्रेम का अद्भुत चमत्कार प्रकट करना है।[97] अर्थात् सत्याग्रही आत्म-पीड़न से दूसरे के हृदय को संस्पर्श करता है। गांधी के शब्दों में "मैं इस मौलिक निष्कर्ष पर आया हूँ कि यदि आप कुछ महत्वपूर्ण काम करना चाहते हैं तो केवल बुद्धि को ही संतुष्ट नहीं करें हृदय को भी द्रवित करें। क्योंकि बुद्धि की पहुँच विशेष रुप से मस्तिष्क तक रहती है। परन्तु आत्म-पीड़न के द्वारा हृदय में प्रवेश किया जाता है।" आगे भी उन्होंने

कहा है- "अहिंसा अपनी गतिशील अवस्था में चेतन दुःख भोग है। यह अन्यायियों की इच्छाओं के विरुद्ध छेदन करने की क्रिया है।[98] इसीलिए श्रीमती जॉन वॉनडूरान्ट ने कहा है कि सत्याग्रह में आत्म-पीड़न नैतिक दबाव डालने के लिए दिया जाता है।[99] इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि हृदय-परिवर्तन का आधार नैतिक और सामूहिक हित से प्रेरित होकर आत्म-पीड़न सहना है। यदि कोई अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अपने को कष्ट देता है तो इसके द्वारा हृदय-परिवर्तन नहीं हो सकता। दुःख-भोग के पीछे परोपकार का गहरा तत्व हृदय परिवर्तन के लिए आवश्यक है। डा. विश्वबंधु चटर्जी ने गांधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की तीन विशेषताओं[100] को बताया है। प्रथम, परिवर्तित होने के लिए. व्यक्ति के विवेक को ही प्रेरित किया जाता है। परिवर्तन का आधार निरपेक्ष नैतकता होती है, कोई काम चलाऊ समझौता या व्यवस्था नही। दूसरे, किसी भी पीड़ा, कष्ट, निग्रह या वेदना को सत्याग्रही स्वयं सहन करता है जिसके लिए यह प्रेम का निपीड़न है। तीसरे, परिवर्तन एक प्रकार की द्वैध-प्रक्रिया है। प्रथम स्तर में अपने ऊपर जो निग्रह और निपीड़न लिये जाते हैं, उनका प्रभाव अवलोकनकारी के हृदय के अंदर प्रवेश करता है। तत्पश्चात् उसके मूल्य बोध में परिवर्तन आ जाता है और इसके परिणाम स्वरुप अंतर्वाह्य व्यापारों को एक नवीन दिशा मिलती है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या आत्म-पीड़न से प्रतिपक्षी के हृदय का सचमुच परिवर्तन होता है? और यदि होता है तो क्यों? प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में एन.जी.एस. कीनी का विचार उल्लेखनीय है। कीनी महोदय के अनुसार आत्म-पीड़न से प्रतिपक्षी को अद्‌भुत शक्ति या चमत्कार का भान होता है। अतएव ऐसी परिस्थिति में वह इस बात का अनुभव करता है कि सत्याग्रही की मांगो को स्वीकार किए बिना उसका अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। अतएव व्यावहारिक दृष्टि को सामने रखकर वह अपनी नीति को बदल लेता है जिसे हम हृदय परिवर्तन कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह हृदय-परिवर्तन नहीं है।[101] गहराई से विचार करने पर कोनी महोदय का विचार हल्का सा मालूम पड़ता है। उनके विचार की सत्यता सामान्य हड़ताल के सम्बन्ध में हो सकती है जहाँ पर सत्याग्रही और विपक्षी में स्वार्थ का

सम्बन्ध होता है परन्तु गांधी के सत्याग्रह के सम्बन्ध में नहीं। यदि कीनी महोदय के तर्क को स्वीकार कर भी लिया जाय, तो इससे सचमुच हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का खंडन नहीं होता। यदि कोई सत्ता सत्याग्रही के आत्म-पीड़न से उसके चमत्कार का अनुभव करे, तो इसका अप्रत्यक्ष रुप से यह अर्थ होता है कि वह प्रतिपक्षी की नैतिक शक्ति को स्वीकार करता है। यदि समूह के सामने अपने को वह बचाना चाहता है तो इसका अर्थ है कि उसके विवेक का जागरण हुआ है। पहली अवस्था में वह नैतिक शक्ति के चमत्कार से अनभिज्ञ था। समूह के सम्बन्ध में उसका विवेक जाग्रत नहीं था। परन्तु सत्याग्रही के आत्म-पीड़न से ये जाग्रत हो गए। यही तो हृदय-परिवर्तन है। इस सम्बन्ध में दूसरे प्रश्न के उत्तर में पाश्चात्य समाज-शास्त्री सोरोकिन का विचार उचित जँचता है। सोरोकिन के अनुसार आत्म-पीड़न के द्वारा प्रकट किया हुआ प्रेम हिंसा की तुलना में अधिक शक्तिशाली होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हिंसा प्रतिपक्षी में प्रतिरोध उत्पन्न करती है। परन्तु दूसरी ओर प्रेम उसमें शुभ गुणों को जगाता है। अत: हृदय-परिवर्तन अनुकूलता और सज्जनता से निःसृत परिवर्तन है।[102] किसी वाह्य शक्ति के कारण नहीं। यह मात्र सत्याग्रही के असाधारण चमत्कार का परिणाम नहीं।

सत्याग्रह पद्धति के अन्तर्गत विनोबा गाँधी की भाँति हृदय-परिवर्तन के आधार पर क्रान्ति चाहते हैं परन्तु गांधी के हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त से इनका सिद्धान्त कुछ विकसित मालूम पड़ता हैं। गाँधी का 'आत्म-पीड़न' विनोबा के आचार और विचार में सूक्ष्म और सौम्य रुप में प्रकट होता है। उन्होंने गांधी की पद्धति विशेष को एक प्रकार की निषेधात्मक पद्धति तथा दबाव पर आधारित पद्धति बतलाया है।[103] अतएव इनके अनुसार हृदय-परिवर्तन भावात्मक प्रेम और सहयोग के आधार पर होता है जो अधिक प्रभावोत्पादक होता है। ये हृदय परिवर्तन की सौम्य और सूक्ष्म पद्धति में विश्वास करते है।[104] उग्र और स्थूल पद्धति में नहीं। इनसे भिन्न श्री जयप्रकाश नारायण हृदय-परिवर्तन की उग्र और स्थूल पद्धति में भी विश्वास करते है।

परन्तु प्रश्न है कि प्रेम और सहकार पर आधारित प्रक्रिया का स्वरुप क्या है? विनोबा की प्रक्रिया वैचारिक प्रक्रिया है। हृदय-परिवर्तन के लिए प्रतिपक्षी के सामने

विचार रखे जाते हैं, साथ-ही-साथ उनके कार्यो में सहयोग दिया जाता है। धीरे-धीरे जब वह विचार बुद्धि के धरातल से आगे जाकर ह्रदय के धरातल पर पहुँचता है, तो हमारे विचार तो बदल ही जाते हैं, हमारी आस्थाएँ भी बदल जाती हैं। इसी को ह्रदय-परिवर्तन कहते हैं। इसी कारण विनोबा साम्यवादी विचारकों में ह्रदय परिवर्तन होते देखते हैं। जो साम्यवादी यह मानते हैं कि मानव का ह्रदय-परिवर्तन नहीं होता, उसका उत्तर देते हुए विनोबा कहते हैं कि यह विश्वास गलत मनोविज्ञान पर आधारित है। यदि हम मानते हैं कि ह्रदय-परिवर्तन नहीं होता है, तो इसका अर्थ यह है कि मानव स्वभाव की जड़ता[105] को स्वीकार कर. लेते हैं जो गलत है। उनके अनुसार मानव स्वभाव परिवर्तनशील और विकासशील है। अतः ह्रदय-परिवर्तन स्वाभाविक है। ह्रदय-परिवर्तन के लिए विनोबा आत्मशुद्धि पर विशेष बल देते हैं। इसीलिए उन्होंने ह्रदय-परिवर्तन के कार्य के रुप में शुद्धि[106] का कार्य उठाया और उसके लिए गीता प्रवचन[107] का अध्ययन-मनन आवश्यक समझा। उनकी यह धारणा है कि ह्रदय परिवर्तन मोह ग्रस्तो का होता है[108] और यह कार्य संत ही कर सकते हैं। संत अपनी आत्मा की शुद्धि की पराकाष्ठा पर होते हैं। अतः किसी के ह्रदय-परिवर्तन के लिए उन्हें कुछ कहने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी मात्र उपस्थिति और उनका नाम ही ह्रदय-परिवर्तन के लिए पर्याप्त है।[109] यह विचार उन्होंने सूक्ष्म कर्मयोग के रुप में बतलाया है।

विचार परिवर्तन– ह्रदय-परिवर्तन की पहली आवश्यक भूमिका है विचार-परिवर्तन। विचार-परिवर्तन के कारण ही मनुष्य का ह्रदय-परिवर्तन होता है। अतएव करुणा के द्वारा क्रांति लाने के लिए गांधी और विनोबा ने विचार-परिवर्तन को आवश्यक समझा। विश्व में जितनी भी क्रांतियां हुई हैं चाहे वे हिंसक हों या अहिंसक, उनके पीछे विचार और विचार-तंत्र का प्रबल हाथ रहा है। साम्यवादी क्रांति में भी कार्ल मार्क्स के विचार का ही प्रभाव रहा है। गांधीवाद में ह्रदय-परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ-ही-साथ पूरक[110] प्रक्रिया के रुप में विचार परिवर्तन की क्रिया चलती है।

गाँधी सामाजिक क्रांति लाने के लिए जनमत का निर्माण करना आवश्यक समझते थे। उनके अनुसार सभी प्रकार के शोषण और असमानताओं[111] का मूल

अज्ञान है। यदि गरीबों को इस बात की शिक्षा दी जाए कि आर्थिक मामलों में उनके शोषण का आधार पूंजीपति के साथ सहयोग करना है।[112] तथा असहयोग से ही उनके शोषण का अंत हो सकता है, तो फिर क्रांति में कोई देर नहीं लगेगी। अत: समूह को अपनी शक्ति का ज्ञान करवाना गांधी क्रांति के लिए आवश्यक मानते थे। परन्तु यह काम हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया से नहीं विचार-परिवर्तन की प्रक्रिया से होगा। विचार-परिवर्तन के लिए गांधी ने अनेक माध्यम अपनाए- जैसे प्रार्थना सभा में भाषण, पत्रिका का प्रकाशन, ग्राम-रचना का कार्यक्रम इत्यादि। फिर उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाते थे और उनका वे तर्कसंगत उत्तर देते थे। अनुभव के आधार पर कार्य कराना और युक्ति के आधार पर लोगों को समझाना- ये दोनों कार्य वे करते थे। उन्होंने कहा भी था कि जब तक उनकी बात किसी के मस्तिष्क और हृदय को तुष्ट नहीं करे तब तक वह उनके विचार को नहीं माने।[113] किसी भी क्रांति का स्थायी आधार विचार-परिवर्तन ही है। गांधी की तरह विनोबा भी यह मानते हैं कि विचार-परिवर्तन के द्वारा ही मानव के नैतिक मूल्यों में परिवर्तन लाया जा सकता है जिसके बिना क्रांति संभव नहीं है।[114] साम्ययोग का मुख्य उद्देश्य नैतिक मूल्यों में परिवर्तन लाना है।[115] उनका यह भी विश्वास है कि विचार-परिवर्तन या धर्म-प्रचार का कार्य राज्य-सत्ता से संभव नहीं है।[116] यह कार्य राज्य और सरकार से अलग रहने वालों के द्वारा ही हो सकता है।

स्थिति परिवर्तन- हृदय और विचार-परिवर्तन के द्वारा मनुष्य के संपूर्ण जीवन में परिवर्तन हो जाता है। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन परिवर्तित हो जाता है तो सामाजिक परिस्थिति का परिवर्तन स्वाभाविक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इससे परिस्थिति अपने आप बदल जाती है और समाज रचना में परिवर्तन हो जाता है। वस्तुत: समाज रचना में परिवर्तन करने की अलग से आवश्यकता पड़ती है। हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन एक प्रकार से स्थिति-परिवर्तन की आवश्यक भूमिकाएँ हैं। स्थिति-परिवर्तन इन दोनों से भिन्न प्रक्रिया है। प्रेम, पीड़ा तथा तप से व्यक्ति और समुदाय में हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है परन्तु इससे सम्पूर्ण समाज का हृदय परिवर्तन नहीं हो सकता।[117] इसी प्रकार शिक्षा और अन्य माध्यमों से

विचार में क्रांति लाई जा सकती है परन्तु इनसे पूर्ण क्रांति असंभव है। पूर्ण क्रांति के लिए समय और इतिहास की नब्ज को पकड़ कर संपूर्ण परिस्थिति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए गांधी और विनोबा ने क्रांति के इस शर्त को भी आवश्यक समझा है। गाँधी के अनुसार केवल विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन ही संपूर्ण क्रांति के लिए पर्याप्त नहीं है। समाज रचना का परिवर्तन अर्थात् पंचायती राज की स्थापना भी क्रांति के लिए आवश्यक है जिसमें जनमत के आधार पर शासन चल सकता है। जनमत के सामने कोई भी शक्ति नहीं टिक सकती है। उसे अपने को बाध्य होकर बदलना पड़ता है। परिस्थिति-परिवर्तन की प्रक्रिया कुछ कठिन है और यह कुछ देर से संपन्न होती है। परन्तु परिस्थिति का परिवर्तित होना असंभव नहीं। आज गाँधी और विनोबा के आंदोलन के परिणामस्वरुप बहुत-सी परिस्थितियाँ बदली नजर आती हैं। ब्रिटेन की उपनिवेशवादी नीति का अंत, छुआछुत का अंत, लड़कियों का कालेजों और दफ्तरों में आना-जाना तथा पर्दा प्रथा का अंत ये सभी स्थिति परिवर्तन के उदाहरण है। इसी प्रकार नि:शस्त्रीकरण की ओर अमेरिका व रुस जैसे युद्धोन्मादी राष्ट्र का अग्रसर होना, शांति की नीति की ओर झुकाव होना स्थिति-परिवर्तन ही है।[118]

सत्याग्रह के त्रिविध आयाम- वस्तुत: सत्याग्रह की प्रक्रिंया के तीन आयाम है। प्रथम आंदोलनात्मक तथा संघर्षात्मक-प्रक्रिया है जिसके द्वारा सत्याग्रही अन्याय का प्रतिकार अहिंसक प्रक्रिया से करता हे। इसे श्री आर.आर. दिवाकर ने "एग्रेसिव सत्याग्रह"[119] (aggressive Stayagraha) कहा है। दूसरी प्रक्रिया भावात्मक है जिसमें समाज-रचना का कार्यक्रम होता है। इसे श्री दिवाकर "कन्स्ट्रक्टिव सत्याग्रह"[120] (Constructive Satyagraha) की संज्ञा देते हैं। तीसरी, मूल्य परिवर्तनात्मक प्रक्रिया है जिसके अनुसार सत्याग्रही और समाज का मूल्य-परिवर्तन होता है।

सत्याग्रह की आंदोलनात्मक और प्रतिकारात्मक प्रक्रिया वस्तुत: सामाजिक संस्थाओं और सम्बन्धों के मार्ग में व्यवधान के निराकरण का एक उपकरण है। परन्तु सत्याग्रह केवल इतना ही नहीं है। पूर्ण सत्याग्रह में निषेधात्मक तत्वों के साथ-साथ भावात्मक मूल्य भी जुड़ें हुए होते हैं। यह एक जीवन पद्धति है। जीवन और जीवन

के संपूर्ण पहलुओं के प्रति इसमें एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है। यह ऐसे जीवन जीने की प्रवृत्ति है जो जीवन-निर्माण, उत्थान तथा विस्तार के साथ चलने वाली विकासात्मक शक्तियों के अनुकूल है तथा जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के उत्पादन तथा रचनात्मक कार्यो के रुप में प्रकट होती है।[121] अत: संक्षेप में रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह के भावात्मक पक्ष हैं। अन्याय के प्रति प्रतिकार और नई व्यवस्था के निर्माण के लिए रचनात्मक कार्यक्रम- ये दोनों सत्याग्रह के अवियोज्य अंग हैं।

गांधी जी के अनुसार यदि प्रतिकारात्मक सत्याग्रह को रचनात्मक सत्याग्रह से नहीं जोड़ा जाय तो वह पूर्णरुपेण अहिंसक नहीं हो सकेगा। असल में रचनात्मक कार्यक्रम, सत्याग्रह को पूर्णत: अहिंसक और सृजनात्मक बनाता है। "रचनात्मक कार्यक्रम गांधीवादी सत्याग्रह रुपी आत्मा का शरीर है। यह सत्याग्रह का सहवर्त्ती और पूरक तत्व है।"[122] डा. दिवाकर ने भी इसका समर्थन किया है। "गाँधीजी द्वारा बताये गये 15 प्रकार के तथा अन्य सभी रचनात्मक कार्यक्रम वस्तुत: सत्याग्रह के रचनात्मक और भावात्मक रुप है।"[123] इसी को डा. हरिद्वार राय ने दूसरे शब्दों में समझाते हुए कहा है "गांधीजी के लिए सत्याग्रह केवल अन्याय के प्रतिकार का साधन नहीं है किन्तु यह स्पष्ट रुप से एक स्वस्थ्य और सृजनात्मक जीवन-पद्धति है।"[124] इसीलिए प्राय: सभी विचारक इस पर एकमत हैं कि "सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रम समाज परिवर्तन तथा समाज-नियंत्रण की दो परस्पर पूरक-पद्धतियाँ है।"[125] श्रीमती बॉनडुराण्ड का मत है कि "वास्तविक सत्याग्रह अन्याय के प्रतिकार में सर्वथा सक्रिय होने के साथ-साथ रचनात्मक, और आंदोलनात्मक होने के साथ-साथ समन्वयकारी है।"[126] यों तो गांधी ने अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियाँ देश भर में चलाई थी किन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक (रचनात्मक-कार्यक्रम) में निम्नलिखित 15 कार्यक्रमों का उल्लेख किया है- 1. साम्प्रदायिक एकता, 2. अछूतोद्धार, 3. मद्य-निषेध, 4. खादी, 5. गग्रमीण-कुटीर-उद्योग, 6. ग्राम-सफाई, 7. नई-तालीम, 8. वयस्क-शिक्षा और साक्षरता, 9. नारी का उद्धार, 10. समग्र-ग्राम सेवा, 11. हिन्दुस्तानी का प्रचार, 12. मातृभाषा के प्रति प्रेम, 13. आर्थिक समानता के लिए कार्य, 14. आदिवासियों की सेवा, 15. विद्यार्थी, किसान और मजदूरों का संगठन।

उपर्युक्त रचनात्मक कार्यक्रमों को गांधी ने नीचे से नई समाज-रचना प्रस्तुत करने के लिए रखा था। परन्तु गांधी इन्हीं कार्यक्रमों को ही अंतिम और पूर्ण नहीं मानते थे।[127] उन्होंने इनको उदाहरण के रुप में रखा था। आवश्यकता पड़ने पर नये कार्यक्रमों को भी जोड़ा जा सकता था। इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिए उन्होंने स्वयंसेवकों का भी संगठन किया। रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा समाज का सुधार खंड-खंड करके होता है। परन्तु समस्त समाज के परिवर्तन के लिए एक समग्र भावात्मक प्रक्रिया भी चाहिए। इसके लिए सर्वोदय का कार्यक्रम था।[128] सत्याग्रह की प्रतिकारात्मक-प्रक्रिया का उद्देश्य समाज में अंतर्निहित बुराई, शोषण और अन्याय को दूर करना है। रचनात्मक कार्यक्रम की विधायक-प्रक्रिया के द्वारा नवीन समाज-रचना का कार्य संपन्न किया जाता है। परन्तु दोनों के अतिरिक्त एक और प्रक्रिया सत्याग्रही तथा प्रतिपक्षी के बीच चलती रहती है। इसे मूल्य-परिवर्तनात्मक-क्रिया कहते है। किसी भी समाज का अपना मूल्य तथा आदर्श होता है। अतः उसकी अपनी अलग संस्कृति होती है। चाहे सत्याग्रही समुदाय या व्यक्ति हो या अन्यायी प्रतिपक्षी दोनों की संस्कृतियों में कुछ अच्छे और कुछ बुरे मूल्य होते है।[129] सत्याग्रह की प्रक्रिया के द्वारा दोनो के बूरे मूल्यों में परिवर्तन होता है तथा शुभ-मूल्यों का विकास होता है। सत्याग्रही अपनी क्रिया तब आरंभ करता है जब उसे यह भान होता है कि शासक की राज्य, दंड या हिंसा-शक्ति से उसकी नैतिक शक्ति श्रेष्ठ है तथा वह भौतिक शक्ति से हीन होते हुए भी नैतिक शक्ति के सहारे सबल-से-सबल प्रतिपक्षी को जीत सकता है। जब तक सत्याग्रही अपने जीर्ण-शीर्ण गलत मूल्यों को नहीं बदलता, वह सत्याग्रह नहीं कर सकता। शासक चाहे कितना भी कठोर और नृशंस क्यों न हो फिर भी हमें यह समझना चाहिए कि उसका परिवर्तन हो सकता है और ऐसे अन्यायी की आज्ञा पालन करना प्रजा का धर्म नहीं है। अतः इससे स्पष्ट है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया में सत्याग्रही एक ओर शत्रु की भौतिक शक्ति का ख्याल नहीं करके धर्मयुद्ध में अपनी अंतिम आहुति देने के लिए भी तत्पर हो जाता है, दूसरी ओर वह उसकी अच्छाइयों और नैतिक शक्ति के जागरण में भी विश्वास करने लगता है। इसी आधार पर उसकी समस्त योजना चलती है। विशेष समुदाय जब इन मूल्यों को मानने लगता है तो परिवर्तन व्यक्ति

से बढ़कर समुदाय तक आता है। जब समूचे समाज में यह मूल्य परिवेष्ठित हो जाता है तो सामाजिक क्रान्ति होती है।

इसी प्रकार प्रतिपक्षी की ओर से भी मूल्य परिवर्तन होते है। प्रतिपक्षी का शोषण इस बात पर निर्भर करता है कि शोषित के बारे में उसकी क्या धारणा है। यदि वह शोषित व्यक्ति को स्वभाव से दुष्ट, कायर तथा हीन मानता है तो उनके साथ हिंसा से पेश आता है। परंतु इसके बदले यदि शोषित हिंसा से प्रतिकार करता है तो शोषक की धारणा पुष्ट हो जाती है और हिंसा-प्रतिहिंसा चलती रहती है। परंतु यदि शोषित अहिंसक साधन को अपनाता है तो शोषक का पुराना विश्वास टूट जाता है। उसकी नैतिक हार हो जाती है। वह शोषित के बदले स्वयं को दुष्ट और हिंसक पाता है। अत: उसके पुराने मूल्य बदल जाते है। विचार जब बदल जाता है तो आचार भी उससे प्रभावित होगा ही। पुराने मूल्य बदलने लगते हैं और नए मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है। फिर तो समाज का स्वरूप ही बदल जाता है। यहीं पर क्रांति की प्रक्रिया पूर्ण होती है। अत: समाज-परिवर्तन के लिए मूल्य परिवर्तन आधारभूत शर्त है। इसके बिना क्रांति न तो प्रभावकारी होगी और न स्थायी।

प्रजातंत्र और सत्याग्रह– जब हम प्रतिकारात्मक सत्याग्रह की बात करते हैं तो स्वाभाविक रुप से यह प्रश्न हमारे सामने आता है कि सत्याग्रह की सार्थकता केवल परतंत्र राज्य और विदेशी-शासन के संदर्भ में ही है या प्रजातंत्र में भी इसका कोई स्थान है? जब प्रजातंत्र के संदर्भ में सत्याग्रह को हम देखते है तो इसके संबंध में कई प्रश्न उठते हैं। पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या सत्याग्रह की प्रक्रिया प्रजातांत्रिक शासन-पद्धति में संगत है? दूसरा प्रश्न है क्या सत्याग्रह की सफलता केवल प्रजातांत्रिक शासन-पद्धति में ही संभव है या अन्य शासन-पद्धति में भी? तीसरा प्रश्न है, कि क्या प्रजातंत्र सत्याग्रह प्रक्रिया के अभाव में भी कायम रह सकता है? इन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है।

कुछ लोगों के अनुसार प्रजातंत्र में सत्याग्रह का प्रयोग नहीं होना चाहिए। श्री बलराज पुरी ने युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि प्रजातांत्रिक शासन में सत्याग्रह की प्रक्रिया अवैध और अनुचित है। उनकी युक्तियाँ

इस प्रकार है- प्रजातंत्र की शक्ति किसी समस्या के संवैधानिक तरीके से समाधान ढूढ़ने में है। यदि संवैधानिक साधनों को छोड़कर हम कोई ऐसा साधन ढूढ़ते है जिसमें समस्या का समाधान सीधे अपने हाथों में ले लेते है चाहे वह हिंसक हो या अहिंसक दोनों परिस्थितियों में इससे प्रजातंत्र की शक्ति क्षीण होती है।[130] प्रजातांत्रिक व्यवस्था में बहुसंख्यकों को सत्याग्रह करने की आवश्यकता नहीं है और अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों पर अपनी इच्छा लादना उचित नहीं है। यदि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच हित विरोध हो तो वहाँ पर बहुसंख्यक को भी यह अधिकार नही है कि वह अपनी इच्छाओं को अल्पसंख्यकों पर लादे।[131] इस प्रकार किसी भी परिस्थिति में प्रजातंत्र में सत्याग्रह वांछनीय नही है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में विवेक और संख्या बहुत ही महत्वपूर्ण है। परंतु जब साक्षात् अहिंसक कार्यो के द्वारा संवैधानिक प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं को अपने हाथ में ले लेते है तो यहाँ पर विवेक और बहुसंख्या के स्थान पर आत्मपीड़न और दया औचित्य का आधार बन जाते हैं। इस साधन को हिसक साधन की तुलना में भले ही अच्छा कहा जाय परंतु यह संवैधानिक साधनों की तुलना में बहुत ही कम प्रजातांत्रिक है।[132] अंतिम रुप से यह भी कहा जा सकता है कि जो अहिंसक साधन को संवैधानिक साधन का एक विकल्प मानते हैं, वे सचमुच अहिंसा के साथ हिंसा करते हैं। कारण यह है कि जब प्रजातंत्र में बुद्धि और संपत्ति को उचित स्थान नहीं मिलता है तो अहिंसा दबाव में परिणत हो जाती है।[133] अत: बलराज पुरी इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वास्तविक प्रजातंत्र, वास्तविक क्रान्ति और वास्तविक अहिंसा वास्तव में एक दूसरे से अवियोज्य है।[134] दूसरी ओर आचार्य जे.बी. कृपलानी, विनोबा भावे तथा अन्य सर्वोदय विचारक प्रजातंत्र में सत्याग्रह को संवैधानिक तथा उचित मानते है। आचार्य कृपलानी के अनुसार गांधी ने प्रजातांत्रिक सरकार में सविनय अवज्ञा का कभी भी निषेध नहीं किया है। वे इसमें कभी भी विश्वास नहीं करते कि बहुसंख्यक गलती कर ही नहीं सकते हैं। उन्होंने व्यक्ति की अंतरात्मा को सर्वोपरि स्थान दिया है।[135] उन्हें इस बात का आभास था कि प्रजातांत्रिक सरकार भी स्वेच्छाचारी, भ्रष्ट और केंद्रित व्यवस्था की समर्थक हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में

व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा खतरे में पड़ सकती है। तब व्यक्ति को अपनी अंतरात्मा की आवाज को ही प्रधानता देनी होगी।[136]

गांधी के अनुसार सत्याग्रह एक शुद्ध और असंदिग्ध शस्त्र है। उनका यह विश्वास है कि शुद्ध शस्त्र के व्यवहार से शुभ का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है, भले ही हम भ्रमित उद्देश्य से ही उसका व्यवहार क्यों न करें।[137] फिर उनका यह कहना कि "अहिंसक प्रतिकार को दबाना अंतरात्मा को कैद करना है,"[138] प्रजातंत्र में सत्याग्रह की आवश्यकता तब नहीं पड़ सकती है जब इसमें भ्रष्टाचार और व्यक्ति को पीड़ित करने का कोई स्थान नहीं रहे, जो वास्तव में अंसभव है। इसलिए गांधी ने कहा- मैं असहयोग को सार्वभौमिक रुप से व्यवहार की वस्तु मानता हूँ।[139]

प्रजातंत्र में जनता को 'नागरिक' और सर्वाधिकारी राज्य में 'प्रजा' कहा जाता है। गांधी ने यह इच्छा व्यक्त की है कि "मैं प्रत्येक नागरिक को यह बात मालूम करा दूँ कि सविनय प्रतिकार उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। इसको खोना मानो मानवत्व को खोना है।"[140] जब राज्य भ्रष्ट और कानूनहीन हो ज़ाता है तो सविनय-अवज्ञा नागरिकों का पवित्र कर्तव्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो कोई राज्य का साथ देता है वह भ्रष्टाचार और कानूनहीनता का भी भागी बनता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सविनय-अवज्ञा कानून का उल्लंघन नहीं बल्कि उच्चतर नियम का पालन है। फिर सत्याग्रह पुत्र, पत्नी, शासक, मित्र तथा समस्त विश्व के विरुद्ध किया जा सकता है तो फिर यह प्रजातांत्रिक सरकार के विरुद्ध क्यों नहीं किया जा सकता है?[141] इस प्रकार आचार्य कृपलानी प्रजातंत्र में सत्याग्रह का प्रयोग प्रतिकारात्मक अर्थ में आवश्यक मानते हैं। श्री मोहन मुरारी के अनुसार तो सत्याग्रह चाहे जीवन पद्धति के रुप में लिया जाय अथवा अहिंसक प्रतिकार के अर्थ में लिया जाय, सही अर्थ में यह प्रजातंत्र का जीवन-रक्त है।[142] उनके अनुसार सत्याग्रह व्यक्ति के हृदय में स्वतंत्रता की भावना तथा इसके प्रति प्रेम को घनीभूत कर देता है। प्रजातंत्र के लिए भी स्वतंत्रता के प्रति प्रेम आवश्यक है। फिर सत्याग्रह के द्वारा राष्ट्र को त्याग, आत्मानुशासन तथा सृजनात्मकता की शिक्षा मिलती है जो प्रजातंत्र के लिए अनिवार्य है। वस्तुतः सत्याग्रह राष्ट्र को अन्याय और हिंसा से लड़ने के लिए एक

शक्ति प्रदान करता है। अतः सत्याग्रह प्रजातंत्र के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार डा. नागेश्वर प्रसाद भी यह मानते है कि वैध राजनैतिक व्यवस्था में सत्याग्रह का विचार गांधी की मौलिक देन है।[143] खासकर प्रजातंत्र में ऐसे वर्ग जिनकी पहुँच राजनीति में प्रभावकारी नहीं है, सत्याग्रह का प्रयोग अनुशासित और सांस्कृतिक ढंग से कर सकते हैं।

प्रजातंत्र में सत्याग्रह की अनिवार्यता के प्रश्न पर व्यवहारतः दादा धर्माधिकारी व विनोवा के विचारों में विभेद है। प्रजातंत्र में सत्याग्रह के प्रश्न पर जहाँ दादा धर्माधिकारी गतिशील एवं उग्र विचार रखते हैं, वहाँ विनोबा का दृष्टिकोण नरम और केवल नाम का है।[144] इस सम्बन्ध में डा. लोहिया का कथन है कि भारत में महात्मा गांधी के बाद विनोबा भावे ने सत्याग्रह की अवधारणा को विकसित करने का प्रयास किया, परन्तु अपने इस प्रयास में उन्होंने 'सत्याग्रह' के केवल 'प्रेम' के पहलू को अपनाया तथा 'रोष' का त्याग कर दिया, फलस्वरूप, 'सत्याग्रह' ने अत्याचारियों एवं शोषकों से संघर्ष करने की शक्ति को खो दिया।[145] यही कारण है सन् 1974-75 के आन्दोलन जिसका नेतृत्व जे.पी. कर रहे थे का दादा धर्माधिकारी ने समर्थन किया और विनोबा ने विरोध। विनोबा ने अपने सत्याग्रह के सिद्धान्त में 'प्रतिकार' के बदले 'सहकार' की बात की है। उनके अनुसार हृदय परिवर्तन भावात्मक प्रेम और सहयोग के आधार पर होता है जो अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

गांधी दर्शन के आचार्य किशोरलाल जी मशरुवाला स्वराज्य के बाद की स्थिति में, "लोकशाही में सत्याग्रह का क्या स्थान है," इस पर अपने निश्चित विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि "सचमुच अहिंसक सत्याग्रह के जरिये ही समाज और राज्य की तन्दुरुस्ती संभाली जा सकती है। सत्याग्रह के जरिये ही सामाजिक प्रगति हो सकती है। स्वराज्य में सत्याग्रह का सहारा न लेने की बात कहने के बजाय भारत के राजपुरुष को अपने देशवासियों को यह सलाह देनी चाहिए कि यह संविधान मिल जाने के बावजूद यदि सरकार का शासन प्रबन्ध अच्छा न हो और सभी वैधानिक उपाय नाकामयाब हो जाय तो ऐसे में सत्याग्रह के जरिए अपनी मरजी

से अपने आप मुसीबत उठाकर बुराई की ओर देश और राज्य का ध्यान खींचना और उसको दूर करना चाहिए। फासिस्ट, तानाशाही व लोकशाही सभी विधान सत्याग्रह के सामने आसानी से झुक जाते हैं।[146] श्री मशरुवाला ने पुनः आगे लिखा है कि– "सत्याग्रही के लिए इसका कोई मूल्य नहीं कि हुकूमत विदेशी है या स्वदेशी, शासन प्रणाली तानाशाही है या लोकशाही। सत्याग्रही अपनी अन्तरात्मा की तराजू में अन्याय को तौलेगा और यदि उसकी अन्तरात्मा हामी भरती है तो वह शासन के अन्याय के खिलाफ सत्याग्रह करना अपना धर्म समझेगा।[147]" निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक आजादी के पश्चात आर्थिक और सामाजिक आजादी भी अहिंसात्मक सत्याग्रह से ही प्राप्त की जा सकती है अन्यथा राजनीतिक आजादी भी निरर्थक और निष्प्रभावी हो जायेगी। जब लोकशाही सरकार अपने मार्ग से भटकें, तब यदि सत्याग्रह के जरिये उसे शुद्ध और संयमित न किया जाय तो वह न तो पनप सकती है, न शुद्ध रह सकती है।[148]

जहाँ तक गांधी जी के विचार का प्रश्न है इस बात में संदेह नहीं है कि गांधी प्रजातंत्र में सत्याग्रह का प्रयोग उचित मानते थे। उन्होंने हंटर कमेटी के सामने स्पष्ट रुप से कहा था "मैं सत्याग्रह की अनिवार्यता आने वाली जवाबदेह सरकार में भी मानता हूँ।[149] मैं कल्पना कर सकता हूँ कि स्वराज्य में भी कुछ बातें ऐसी आ सकती हैं जहाँ सत्याग्रह की आवश्यकता पड़े।[150] 1914 में इंडियन ओपिनियन में भी उन्होंने लिखा– "राजनीति में इसका (सत्याग्रह का) प्रयोग इस सत्य पर आधारित है कि जनता की सरकार तभी संभव है जब चेतन या अचेतन रुप से उसकी सम्मति से शासन हो।[151] इसलिए उन्होंने अपने सर्वोदय-समाज के आदर्श के सम्बन्ध में लिखा– "सत्याग्रह और असहयोग से परिवेष्ठित अहिंसा ग्राम-समुदाय की आवश्यक मान्यता होगी।"[152] सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय भी उन्होंने कहा– "मैं जानता हूँ कि यदि मैं स्वतन्त्रता-संघर्ष के बाद बच जाऊँगा तो निश्चय ही अपने देशवासियों को अहिंसक संघर्ष की अनुमति दूँगा। जो इस समय के संघर्ष के समान दुर्दान्त और हठपूर्ण होगा।[153] परन्तु बाद में स्वतंत्रता सन्निकट आई तो गाँधी सत्याग्रह के प्रयोग पर काफी सावधानी की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। 1946 में उन्होंने

कहा कि पूर्ण अहिंसक असहयोग कितना भी सुन्दर क्यों न हो परन्तु लोकप्रिय शासन में इसके लिए स्थान नहीं है।[154] फिर 1947 में उनका कथन था कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति कानून अपने हाथ में ले ले तो इससे अराजकता छा जायेगी तथा स्वतंत्रता की हत्या होगी।"[155] पुनः उन्होंने लिखा- "सत्याग्रह सविनय-अवज्ञा और उपवास का प्रजातंत्र में सीमित व्यवहार है।"[156] इसलिए सत्याग्रह के प्रयोग पर गांधी ने कुछ शर्तो को लगा रखा। अर्थात् इसका प्रयोग तभी किया जा सकता है जब अन्य कानूनी, औपचारिक और अहिंसक तरीके विफल हो जाते हैं। सत्याग्रह शुरु करने के पूर्व इसके अनुशासन और मूल्यों को अच्छी तरह जान लेना आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रजातंत्र में सत्याग्रह की सार्थकता है परन्तु उसका प्रयोग सावधानीपर्वूक होना चाहिए। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि किसी प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में सत्याग्रह पद्धति का प्रयोग निम्नलिखित परिस्थितियों में किया जा सकता है।

प्रथम, जब किसी शासन व्यवस्था का ऊपरी ढ़ांचा लोकतांत्रिक दिखायी पड़े किन्तु उसके द्वारा किसी लोकतांत्रिक मूल्यों व मान्यताओं व आदर्शो की उपेक्षा की जाती हो। स्वतंत्र मतदान के आधार पर स्थापित सरकारें भी निरंकुशवाद व अधिनायकवाद में परिणित हो जाती है। वस्तुतः प्रजातंत्र एक ऐसा समाज है जहाँ सबके लिए स्वतंत्रता व न्याय है। प्रजातंत्रिक शासन पद्धति के लिए बहुमत का शासन न तो एकमात्र मापदण्ड है और न ही लक्ष्य। अल्पमत भी बहुमत के समान महत्वपूर्ण है। किसी एक व्यक्ति की उपेक्षा, अथवा उसके साथ अन्याय प्रजातांत्रिक मूल्यों की उपेक्षा व उसके साथ अन्याय है। अतः यदि प्रजातंत्र छद्म रुप से विद्यमान हो अर्थात वाह्य रुप में प्रजातांत्रिक हो किन्तु अन्दर से अधिकनायकवाद हो अथवा अल्पमत की किसी प्रकार उपेक्षा या शोषण किया जा रहा हो तो सत्याग्रह पद्धति का प्रयोग करना प्रजातांत्रिक व्यक्ति का दायित्व है। अमेरिकी स्वतंत्रता घोषणा पत्र में भी स्पष्टतः इस बात का उल्लेख है कि जीवन, स्वतंत्रता और सुख प्राप्ति के अधिकारों के लिए व्यक्तियों द्वारा सरकारों की स्थापना की जाती है और यदि कोई सरकार इन अधिकारों का हनन करती है तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसे बदल दे या उसका उन्मूलन कर दे।

दूसरे, सरकार यदि देश को विदेशी आक्रमण या आन्तरिक विद्रोह से बचाने में असमर्थ सिद्ध हुई हो अथवा किसी राष्ट्र विशेष के प्रति तुष्टीकरण की नीति अथवा दासतापूर्ण समर्पण की नीति से राष्ट्रीय सम्मान को आघात पहुँचा हो अथवा उससे इतनी बड़ी राजनैतिक भूल हो गयी हो कि राष्ट्र का ताना बाना ही बिखरने की स्थिति में हो गया हो। ऐसी परिस्थितियों में जनता का यह अधिकार ही नहीं अपितु कर्त्तव्य भी है कि वह सरकार के विरुद्ध सविनय-अवज्ञा आन्दोलन छेड़े, जिससे कि सरकार को राष्ट्रीय इच्छा के अनुरूप लाया जा सके।

पुनश्च सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक और अन्य बहुत सी बुराइयां हो सकती हैं, जो राजनैतिक परिधि में नहीं आतीं और देश के प्रजातांत्रिक शासन के होते हुए भी राजनैतिक ढंग से उनका निराकरण नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह का सहारा अपरिहार्य हो जाता है। बर्ट्रेण्ड रसेल, मार्कूस, जॉन राल्स आदि राजनैतिक विचारकों ने कुछ अन्य परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है। जहाँ प्रजातंत्र में सत्याग्रह का सहारा लिया जा सकता है। ये परिस्थितियां निम्नलिखित हैं-

1. संविधान में प्रदत्त अधिकारों के संरक्षण के लिए,
2. विचारों के प्रचार के लिए,
3. किसी समस्या पर पुनर्विचार के लिए,
4. अपील के रुप में,
5. अन्तरात्मा की रक्षा के लिए।

प्रजातंत्र और रात्याग्रह के पारस्परिक सम्बन्धों के उपुर्यक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रजातंत्र और सत्याग्रह दोनों एक दूसरे के पूरक है। बिना प्रजातांत्रिक मूल्यों को जीवन पद्धति के रुप में स्वीकार किये, व उसके परिपालन के बिना कोई व्यक्ति सत्याग्रह पद्धति का प्रयोग नहीं कर सकता अर्थात् एक सत्याग्रही अनिवार्य रुप से प्रजातांत्रिक व्यक्ति होगा। उसी प्रकार सत्याग्रह पद्धति प्रजातंत्र को और अधिक मजबूत, स्वच्छ, गतिशील व लोक कल्याणकारी बनायेगा। इसमें समय-समय पर व्युत्पन्न होने वाली अथवा बाहर से समाविष्ट होने वाली

बुराइयों को दूर करने में सहायक होगा। इस प्रकार यह पद्धति लोकतंत्र को देश–काल के अनुरुप बनाये रखने में, उसे गतिशील व जीवन्त बनाये रखने में अत्यधिक सहायक होगी।

दूसरा प्रश्न है कि सत्याग्रह की सफलता और प्रजातंत्र का क्या संबंध है? अनेक विद्वान इस निष्कर्ष पर आये है कि सत्याग्रह की सफलता केवल प्रजातांत्रिक उदार शासन में ही संभव है। इस संबंध में श्री बंद्योपाध्याय, डा. राजेन्द्र प्रसाद और क्लिटगार्ड का नाम लिया जा सकता है।[152] बंद्योपाध्याय ने बतलाया है कि गांधी के सत्याग्रह की अधिकांश सफलता अंग्रेजो की उदार और प्रजातांत्रिक नीति पर आश्रित है। क्लिगार्ड ने भी कहा है– 'गांधी की व्यूह रचना संभवत: प्रजातंत्र में सबसे अच्छी तरह कार्य करती है जहाँ पर राज्य लोकप्रिय सहानुभूति के आधार पर है जिसमें मानव जीवन और समानता के प्रति सम्मान होता है।'[153] परंतु ऊपर के दोनों विचार सत्याग्रह को पूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखने में असफल है। यदि सच्चे अर्थ में सत्याग्रह को लिया जाय तो यह केवल प्रजातंत्र में ही नहीं, तानाशाही सरकार में भी सफलीभूत होगा। अंग्रेजी शासन में भी सत्याग्रहियों के साथ नृशंसता का व्यवहार किया गया– नागपुर का झंडा सत्याग्रह, और जलियाँवालाबाग हत्याकाण्ड इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वस्तुत: सत्याग्रह की सफलता प्रतिपक्षी के स्वभाव पर आश्रित नही है। इसका अपना तर्कशास्त्र है। यदि प्रतिपक्षी के गुणों का हम विचार करते भी है तो वहाँ पर इसका संबंध सत्याग्रह की व्यूह–रचना और काल से है।[159] प्रतिपक्षी के स्वभाव तथा काल के अनुरुप सत्याग्रही को अपनी व्यूह रचना बनानी पड़ती है। सत्याग्रह की सफलता परिस्थिति की सरलता और जटिलता पर भी आश्रित है। सर्वाधिकारी तथा प्रजातांत्रिक राज्य न केवल दो भिन्न बल्कि विरोधी सामाजिक परिस्थितियों के सूचक है। यदि एक संकीर्ण और बद्ध समाज तथा राजनैतिक व्यवस्था का द्योतक है, तो दूसरा उदार और मुक्त सामाजिक रचना का सूचक है जिसमें जनमत तैयार करने में कोई प्रतिबंध नहीं है। पहली सामाजिक रचना में सत्याग्रही को व्यूह–रचना भी जटिल बनानी पड़ेगी। यहाँ जनमत और जनशक्ति तैयार करने के लिए गुप्त

साधनों का भी सहारा लिया जा सकता है क्योंकि विचार प्रचार कने का कोई खुला विकल्प सामने नहीं है। अहिंसा के मूल सिद्धान्त को ब्यूह-रचना, प्रचार के साधन इत्यादि को बदल कर भी सुरक्षित रखा जा सकता है। इस प्रकार की व्याख्या को कीनी महोदय "Creative interpretation of nonviolent combat" कहते हैं।[160] इसके अभाव में सर्वाधिकारी राज्य में सफलता पाना मुश्किल है। जहाँ तक सर्वाधिकारी राज्य की क्रूरता का प्रश्न है, यह तो प्रजातांत्रिक कहे जाने वाले शासकों में भी कम नहीं है। जलियाँवालाबाग की क्रूरता हिटलर की क्रूरता से कम नहीं है। इसी प्रकार और गहराई से विचार किया जाय तो प्रजातंत्र के नाम पर जनता की आखों में धूल झोंककर समूह के हित के साथ खिलवाड़ क़रने वाले शासक कम अमानवीय नहीं हुए हैं। सत्ता प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए प्रजातंत्र के नाम पर व्यक्ति-व्यक्ति को, जाति-जाति को, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय को तोड़ा जाता है और उनके बीच वैमनस्य के बीज बोये जाते हैं। उससे वर्ग-कलह होते ही रहते हैं। अत: यह कहना कि सत्याग्रह केवल भद्र, सुसंस्कृत और प्रजातात्रिक शासकों के विरुद्ध ही सफल होगा, क्रूर तथा सर्वाधिकारी शासन के विरुद्ध नहीं, उचित नहीं है।

तीसरा प्रश्न यह है कि क्या सत्याग्रह और अहिंसा के बिना प्रजातंत्र कायम रह सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया और प्रजातंत्र में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। यह ठीक है कि अहिंसा और सत्याग्रह की प्रक्रिया से प्रजातांत्रिक वातावरण बनाने में सहायता मिलती है। इसलिए इसे प्रजातंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तो में से एक शर्त मान सकते हैं। परन्तु यह कहना कि सत्याग्रह के अभाव में जनतंत्र कायम नहीं रहेगा, गलत होगा। हम ऐसे भी प्रजातंत्र के बारे में सोंच सकते हैं जहाँ के शासक नागरिक के कल्याण के प्रति सच्चे दिल से वफादार हैं, उनके कानून समस्त समाज के हित के अनुकूल हैं तो फिर वहाँ सत्याग्रह की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु सत्याग्रह की सार्थकता प्रजातंत्र में तब तक रहती है जब तक शासकों में स्वार्थ-भावना, सत्ता से चिपके रहने का मोह, सत्ता के मद से उत्पन्न निरंकुश प्रवृत्ति तथा भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बनी रहती है।

सत्याग्रह की व्यावहारिकता– सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि के रुप में सत्याग्रह सिद्धान्त का विवेचन करने के पश्चात् उसकी व्यावहारिक उपादेयता अर्थात व्यावहारिकता का मूल्यांकन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। क्योंकि यदि कोई सिद्धान्त व्यवहार में परिणित न किया जा सके तो वह काल्पनिक, अनुपयोगी, निरर्थक होता है। ऐसे में उस सिद्धान्त की प्रांसगिकता व अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि गांधी जी स्वयं को व्यावहारिक आदर्शवादी कहते है। ऐसे में गाधीजी के इस व्यावाहरिक आदर्शवाद की परीक्षा सत्याग्रह के सन्दर्भ में करना महत्वपूर्ण हो जाता है। सत्याग्रह की व्यावहारिकता के विषय में कुछ विचारकों ने अनेक आशंकाए उठाई है जिनका स्वयं गांधीजी ने उत्तर दिया है। इस सन्दर्भ में आर्थर मूर का आक्षेप महत्वपूर्ण है जिन्होंने नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सत्याग्रह की श्रेष्ठता में संदेह किया है।[161] मूर के अनुसार सत्याग्रह ऐसे लोगों के लिए ही संघर्ष का साधन है जिनके पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। इसी कारण मूर सत्याग्रह को 'मानसिक हिंसा' कहते हैं और इसे विद्रोह अथवा युद्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नहीं मानते।[162]

मूर द्वारा लगाया गया 'मानसिक हिंसा' का आक्षेप तर्कसंगत व उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुत: आर्थर मूर द्वारा लगया गया आक्षेप सत्याग्रह की मूल मान्यताओं की उपेक्षा करता है। गांधीजी सत्याग्रह के लिए मन, वचऩ तथा कर्म से पूर्णत: सत्य और अहिंसा का पालन करना अनिवार्य मानते हैं। उनका स्पष्ट एवं निश्चित मत है कि सत्याग्रही को हिंसात्मक उपायों द्वारा किसी व्यक्ति को कुछ करने या न करने के लिए कभी भी वाध्य नहीं करना चाहिए ऐसी हिंसात्मक बाध्यता सत्याग्रह के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है।[163] यंग इण्डिया में गांधीजी ने स्पष्ट लिखा है कि हमें अच्छे कार्य के लिए भी बाध्यता का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किसी भी प्रकार की बाध्यता हमारे उद्देश्य को ही नष्ट कर देगी। हमारा आन्दोलन हृदय परिवर्तन का आन्दोलन है, बाध्यता का आन्दोलन नहीं, यह अत्याचारी को भी बाध्य नही करता।[164] इस प्रकार गांधी जी के सत्याग्रह में किसी प्रकार की हिंसात्मक बाध्यता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त सत्याग्रही कभी किसी व्यक्ति

का अहित नहीं चाहता और किसी के प्रति दुर्भाव भी नहीं रखता। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह पर मानसिक हिंसा का आरोपण आधारहीन व अतर्कसंगत है।

आर्थर मूर द्वारा लगाया गया दूसरा आक्षेप कि सत्याग्रह ऐसे लोगो के लिए ही संघर्ष का साधन है जिनके पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं हैं अर्थात् यह कायर व कमजोर लोगों का हथियार है भी उचित नहीं है। सत्याग्रह के लिए महान धैर्य, आत्मसंयम तथा नैतिक बल की आवश्यकता होती है और ये गुण कायर मनुष्य में नहीं पाये जाते। वस्तुतः आर्थर मूर ने सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न न समझने के कारण ही इसे दुर्बल व्यक्तियों का हथियार मान लिया है।[165]

सत्याग्रह की व्यवहारिकता के सन्दर्भ में सी.एम. केस ने यह आक्षेप लगाया है कि यद्यपि अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए आदर्श की दृष्टि से सत्याग्रह बहुत प्रशंसनीय व प्रभावशाली साधन है किन्तु मनुष्य की सीमाओं और दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए इसकी व्यवहारिकता बहुत संदिग्ध प्रतीत होती है। यह मनुष्य से जिस धैर्य, मानवीयता, आत्मसंयम, कष्ट सहने की शक्ति तथा उच्च नैतिक स्तर की मांग करता है उसे अधिकतर व्यक्ति कभी प्राप्त नहीं कर सके है।[166] इस प्रकार केस के मतानुसार सत्याग्रह का सिद्धान्त एक महान आदर्श अवश्य है, किन्तु वह व्यवहारिक जीवन दर्शन नहीं है।[167] केस द्वारा लगाया गया आक्षेप भी सत्य व तर्कसंगत नही है। सत्याग्रह सिद्धान्त के अनुरुप आचरण असाधारण स्त्री व पुरुष का कार्य नहीं, पर्याप्त अभ्यास के पश्चात सामान्य व्यक्ति भी अपने व्यवहारिक जीवन में इसे कार्यान्वित कर सकते है। बहुत से साधारण व्यक्तियों ने भी सत्याग्रह का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।[168] निश्चय ही इसके लिए धैर्य, उदारता, सहनशीलता, आत्मसंयम आदि सद्गुणों की आवश्यकता है। गांधीजी की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर अभ्यास और प्रयत्न द्वारा अपने भीतर इन सद्गुणों का विकास कर सकता है। विश्व इतिहास का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि कुछ समाज सुधारकों के सतत् प्रयास के फलस्वरूप मानव जाति ने दासता, मनुष्य बलि, बालहत्या, सतीप्रथा, आदि ऐसी दुष्प्रथाओं से मुक्ति प्राप्त की है जिनका निराकरण मनुष्य की दुर्बलता और स्वार्थपरायणता को देखते हुए उस समय असम्भव समझा

जाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य निरन्तर प्रयत्न द्वारा सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक नैतिक उन्नति कर सकता है। अतएव गांधीजी सत्याग्रह को आदर्श मात्र न मानकर पूर्णतः व्यवहारिक मानते है। इसका सफल प्रयोग उन्होंने स्वयं भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में किया जिसकी परिणति स्वराज्य प्राप्ति में हुई। किन्तु इस सन्दर्भ में वी.पी. वर्मा का मंतव्य है कि सत्याग्रह की व्यवहारिकता के सम्बन्ध गांधी का मत व्यवहारिक जीवन के कटु यथार्थ की उपेक्षा करता है। इस सम्बन्ध में सी.एम. केस का मत वास्तविकता के अधिक निकट प्रतीत होता है।[169] वस्तुतः गांधी जी ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सत्याग्रह धर्म अति दुःसाध्य है किन्तु जिस सीमा तक हम उसका पालन करेगें उस सीमा तक हममें मनुष्यत्व आयेगा।[170] गांधी जी के अनुसार आदर्श एवम् व्यवहार में सदा अपूरणीय खाई रहेगी ही। यदि उसे उपलब्ध करना सम्भव हो जाय तो वह आदर्श रहेगा ही नहीं।[171]

वस्तुतः एक आदर्श की, एक तार्किक अमूर्तन की, एक तात्विक अवधारणा की भी अपनी व्यावहारिक उपयोगिता है। गणित का बिन्दु या सरल रेखा वास्तविक न होने पर भी विशाल ठोस एवम् वास्तविक भवन इसी अवास्तविक एवम् आदर्श अमूर्तन पर आधारित है। अतः गांधीजी के शब्दों में आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने आदर्श के बारे में निश्चित रहें। हम इसकी उपलब्धि करने में भले ही असफल रहें किन्तु इसके लिए प्रयास करना कभी नहीं छोड़ेगें।[172]

सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह के प्रयोग के विषय में गांधीजी यह स्वीकार करते है कि व्यक्तिगत सत्याग्रह की अपेक्षा सामूहिक सत्याग्रह में अधिक कठिनाईयों और समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि दो व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत से व्यक्तियों में एक साथ आत्मसंयम, सहनशीलता, धैर्य, दुःख सहने की शक्ति, नैतिक बल आदि वे सद्गुण उत्पन्न करना अधिक कठिन है जो सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है। साथ ही समूह में नैतिक अनुशासन स्थापित करना भी अधिक कठिन होता है। अतएव सामूहिक सत्याग्रह कभी-कभी सत्य व अहिंसा के मार्ग से हट जाता है। किन्तु इसके बावजूद गांधीजी यह स्वीकार करते

है कि बहुत से व्यक्तियों का समूह इसका सफलतापूर्वक अनुसरण कर सकता है।[173] यदि समूह को समुचित नेतृत्व तथा प्रशिक्षण प्राप्त हो तो व्यक्ति की भांति उसमें सत्याग्रह के लिए आवश्यक सभी सद्गुण उत्पन्न हो सकते हैं और वह भी अनुशासनबद्ध होकर सत्य और अहिंसा के मार्ग का अनुसरण कर सकता है। दक्षिण अफ्रीका और भारत में लाखों व्यक्तियों को सत्याग्रह के लिए संगठित करके गांधीजी ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि अनेक कठिनाईयों और समस्याओं के होते हुए भी सफल सामूहिक सत्याग्रह सम्भव है। गांधीजी सत्याग्रह की व्यवहारिकता और सफलता के विषय में बहुत आशावादी तथा पूर्णत: आश्वस्त थे। गांधी ने लम्बे अरसे तक न केवल सत्याग्रह की शिक्षा दी वरन् इसकी सफलता के लिए स्वयं निरन्तर अधिकतम प्रयास भी किया। गांधी विचार ने भारत के स्वराज्य सम्पादन का श्रेय प्राप्त कर अव्यहार्यता के आक्षेप से छुटकारा पा लिया है।[174]

राबर्ट ई. क्लिटगार्ड ने द्विविधा के आधार पर तार्किक ढंग से गांधी के सत्याग्रह सिद्धान्त की असंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[175] इनके अनुसार गांधी की अहिंसा एक सामाजिक व्यूहरचना है। एक ओर वे अन्यायपूर्ण कानून का उल्लंघन करना हर नागरिक का कर्त्तव्य मानते हैं, तो दूसरी· ओर कानून की अवज्ञा की धमकी अपने प्रतिपक्षी को देते हैं। इसी प्रकार उपवास की धमकी दी जाती है जो दबावपूर्ण है। अत: गांधी के सिद्धान्त और व्यहार में विरोध मालूम पड़ता है। सिद्धान्तत: गांधी सत्याग्रह में किसी भी प्रकार की धमकी, दबाव और हिंसा का स्थान नहीं देते हैं, परन्तु व्यवहार में ये सभी आ जाते हैं। आचार्य रजनीश भी इस बात को अपने ढंग से रखते हुए कहते हैं कि "गांधी जी अहिंसात्मक रुप से जो आंदोलन चलाते थे वह आंदोलन ही दबाव डालने के लिए था और मेरी दृष्टि में जहॉ दबाव है वहाँ हिंसा है।" आगे भी उन्होंने कहा- "कई बार यह भी हो सकता है कि मैं आपको मारने की धमकी दूँ तो आप मेरा मुकाबला कर सकते हैं। लेकिन जब मैं अपने को मारने की धमकी दूँ तो आपको निहत्था कर देता हूँ। यह हिंसा ज्यादा सूक्ष्म है और बहुत टिकी हुई है।" क्लिटगार्ड और आचार्य रजनीश शायद यह मानते हैं कि दबाव डालने के ढंग अहिंसात्मक हो सकते हैं किन्तु दबाव

खुद हिंसा है। वस्तुत: ये दोनों विचारक 'दबाव' और 'अहिंसा' इन दोनों शब्दों के अन्दर की भावना पर कम ध्यान देते हैं, शब्दों के वाह्य अर्थ पर अधिक। सच्चा सत्याग्रही प्रतिपक्षी को कष्ट नहीं देना चाहता। वह उसकी अप्रतिष्ठा भी नहीं करना चाहता है। वह तो स्वयं कष्ट सहन कर प्रतिपक्षी में सात्विकता प्रकट करने की कामना करता है।

गांधी के अनुसार सत्याग्रही परिणाम का बिना ख्याल किए प्रतिपक्षी पर विश्वास करता है। यदि प्रतिपक्षी बीसों बार धोखा देता है तो भी सत्याग्रही इक्कीसवीं बार भी विश्वास करने के लिए तत्पर रहता है। क्लिटगार्ड इस संबंध में महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि यदि दोनों पक्ष एक दूसरे पर विश्वास करते हैं तो दोनों को लाभ मिलता है, यदि कोई विश्वास नहीं करते तो किसी को लाभ नहीं मिलता है। यदि एक पक्ष दूसरे पक्ष में विश्वास करता है और दूसरा इस विश्वास का उल्लंघन करता है, तो दूसरा लाभान्वित तो होता है परन्तु पहला प्रतिपक्षी द्वारा अविश्वास से उत्पन्न दु:खों से भी अधिक दु:ख भोगता है। अत: सत्याग्रह के द्वारा बहुत लम्बी अवधि के बाद सफलता मिलती है।[176] यहां क्लिटगार्ड दैनिक व्यवहार और सामान्य-मनोवैज्ञानिक विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं। किन्तु सत्याग्रही मनुष्य को जड़ नहीं मानता है। विश्वास के बदले अविश्वास के रास्ते से चलकर मानवता आज कहाँ तक पहुँच गई है, यह सर्वविदित है। फिर विश्वास के बदले सर्वदा अविश्वास ही मिलेगा- यह मान्यता अमनोवैज्ञानिक है। सत्याग्रही का कष्ट-सहन प्रतिपक्षी के हृदय को संस्पर्श नहीं करेगा, यह सोचना भी ठीक नहीं है।

क्लिटगार्ड की अंतिग आलोचना है कि गांधी के सविनय-कानून-भंग सिद्धान्त में विरोधाभास है। यह "Paradox of Civil disobedience" है। एक ओर गांधी यह मानते हैं कि आदर्श की रक्षा के लिए अनैतिक कानून की अवश्य अवज्ञा करनी चाहिए परन्तु दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि कोई निरपेक्ष सत्य नहीं जानता है, इसलिए कुछ कानूनी यंत्रों का पालन आदर्श प्रजातंत्र के लिए आवश्यक है।[177] इस प्रकार क्लिटगार्ड को यह असंगत मालूम पड़ता है। किन्तु इसके पहले हमें गांधी की कल्पना के आदर्श प्रजातंत्र या रामराज्य का स्वरुप समझना होगा। आदर्श-प्रजातंत्र

में वस्तुतः कानून की अवज्ञा का अवसर ही नहीं रहेगा और रहेगा भी तो नगण्य। वहाँ प्रजा के सक्रिय सहयोग से लोकशक्ति के आधार पर शासन-व्यवस्था चलेगी। राज्य का आधार सैन्य-शक्ति या दंड-शक्ति नहीं रहेगा।

एक विशेष प्रकार की आलोचना यह कि जाती है कि चूँकि गांधी के सत्याग्रह का आधार अंतरात्मा की आवाज है, अतः सत्याग्रही एक प्रकार से एकांतवादी और निरंकुश होता है। परन्तु यदि प्रतिपक्षी भी उसी की भांति निरपेक्षवादी हो तो इसका परिणाम भयंकर होगा। दोनों बिना किसी परिणाम पर विचार किए हुए अपनी-अपनी बात पर डटे रहेंगे और नरसंहार होता रहेगा। सत्याग्रही प्रतिपक्षी की निरंकुश नीति को अविवेकपूर्ण और रुढ़ कह कर आलोचना करेंगे तथा अपनी निरंकुश नीति को अहिंसक मानकर प्रशंसा करेंगे, जो उचित नहीं है।[178] फिर भी गांधी प्रतिपक्षी पर अंखड रुप से विश्वास करते हैं। उनकी यह युक्ति है कि यदि "मैं विश्वास नहीं कर सकता तो दूसरा क्यों विश्वास करेगा?" लेकिन यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब गांधी प्रतिपक्षी के हृदय-परिवर्तन की बात करते हैं तो वस्तुतः यहाँ पर प्रतिपक्षी की पराजय नहीं बल्कि विजय होती है। यहाँ उसकी उदार. नीति की विजय मानी जा सकती है। दूसरी ओर जब वे सत्य के आग्रह की बात करते हैं तो यहाँ निरंकुश नीति की विजय होती है। इसे परस्पर विरोधपूर्ण नहीं मानना पड़ेगा क्योंकि सत्य की विजय से सबकी विजय है सत्य किसी एक का नहीं है। अतः यदि सत्य का आग्रह है तो इसमें किसी की विजय और किसी की पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर भी गांधी जी के सत्याग्रह की एक्र प्रमुख प्रविधि असहयोग आन्दोलन व पद्धति के आलोचक रहे है। अतएव उसकी भी समीक्षा आवश्यक है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ टैगोर ने असहयोग आन्दोलन की आलोचना करते हुए इसे निषेधात्मक[179] बतलाया था। उनके अनुसार विशुद्ध नैतिक रूप में असहयोग आन्दोलन राजनैतिक सन्यासवाद है और सक्रिय नैतिकता के रुप में यह एक प्रकार की हिंसा है, मरुस्थल और सामुद्रिक लहर- दोनों हिंसा के ही प्रकार है क्योंकि दोनों जीवन के विरुद्ध है।[180] सृष्टि सहयोग के नियम पर अधारित है। व्यक्ति अपने

को सृष्टि के किसी भाग से विलग कर मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है। सृष्टि के साथ ऐक्य स्थापित करके ही वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। असहयोग आंदोलन के द्वारा पश्चिमी जनता के मन और हृदय से अपने को अलग कर लेना एक प्रकार से आध्यात्मिक आत्महत्या है।[181] इस प्रकार टैगोर ने गांधी के असहयोग आन्दोलन की आलोचना की थी परन्तु टैगोर असहयोग के केवल बाहरी रूपों को ही देखते थे। उसके अन्दर सन्निहित विशाल भावात्मक दर्शन को वे नहीं देख सके थे। वस्तुत: गाँधी जी ने उनकी आलोचना का उत्तर बहुत ही उचित शब्दों में दिया। उनके अनुसार "तात्कालिक परिस्थिति अनिवार्य सहयोग की मांग करती है, परन्तु असहयोग का उद्देश्य भारत और ब्रिटेन के बीच पारस्परिक सम्मान तथा विश्वास पर आधारित वास्तविक, सम्मानित और ऐच्छिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त करना है।[182] उनके अनुसार किसी वस्तु का बहिष्कार करना उतना ही आदर्शजनक है जितना किसी चीज को स्वीकार करना; सत्य का पालन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना असत्य का परित्याग; बुराईयों के प्रति असहयोग करना वैसा ही कर्तव्य है, जैसा अच्छाईयों के प्रति सहयोग करना।[183] अत: असहयोग का निषेधात्मक स्वरुप केवल प्रतिभासिक सत्य है, वास्तविक नहीं। राष्ट्र का असयोग करना मानों इस प्रकार की सूचना है कि वह सरकार का सहयोग अपने हित को सामने रखकर करना चाहता है और यह प्रत्येक राष्ट्र व सरकार का कर्तव्य है।[184] पुन: गांधी ने कहा कि भारतीय जनता का असहयोग न तो ब्रिटेन और न पश्चिम के प्रति है। इसका असहयोग अंग्रेजों के द्वारा स्थापित तंत्रों से है जो भौतिक सभ्यता को जन्म देती है तथा समाज के दुर्बल अंगो का शोषण करती है।[185]

वस्तुत: असहयोग का बाहरी रुप निषेधात्मक मालूम पड़ता है परन्तु अंदर से यह भावात्मक है। यदि गांधी अंग्रेजी संस्थाओं के बहिष्कार के साथ-साथ नई वैकल्पिक जनतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण का उद्देश्य नहीं रखते तब उनके कार्यो को निषेधात्मक कहा जा सकता था। परन्तु उन्होंने हर अंग्रेजी संस्था का प्रभावकारी विकल्प भारतीय ढंग से दिया तथा रचनात्मक कार्यक्रमों में अपनी शक्ति को लगाया। फिर इसे निषेधात्मक कैसे कहा जा सकता है? भावात्मक कार्य का यह

कभी भी अर्थ नहीं होता कि अच्छे-बुरे सभी को एक ही समान स्वीकार करे।

परन्तु यह एक कटु सत्य है कि हमने वास्तव में सत्याग्रह के मार्ग पर चलना नहीं सीखा और आज भी हमारे समाज में वास्तविक सत्याग्रह का कोई स्थान नहीं है। यह अवश्य है कि कुछ व्यक्ति और समुदाय अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सत्याग्रह के नाम का समय-समय पर दुरुपयोग करते रहे है, जिसके कारण यह सत्याग्रह के स्थान पर दुराग्रह के रुप में परिणित हो गया है। यही कारण है कि वर्तमान में सत्याग्रह की सार्थकता और उपादेयता ही संदिग्ध प्रतीत होने लगी। यद्यपि इसका दूसरा पहलू भी है जिसके अन्तर्गत सत्याग्रह का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक जीवन के विभिन्न पक्षों में सफलतापूर्वक किया जा रहा है। अन्ततः यह कहना समीचीन होगा कि हिंसा और अशांति से ग्रस्त विश्व के लिए सत्याग्रह एक महान आदर्श है जिसके अनुसार यथासम्भव आचरण करना निश्चय ही मानव समाज के लिए श्रेयस्कर होगा।

सन्दर्भ स्रोत

1. सिंह रामजी, 'गांधियन एप्रोच टू रिवल्यूशन,' 'गांधी एण्ड सोशल साइन्स', पृ. 63 बुखाइव, नई दिल्ली, 1970 ।
2. पाण्डेय, जनार्दन, 'सर्वोदय का राजनीतिक दर्शन', जानकी प्रकाशन पटना, 1979 पृ. 234 ।
3. लोहिया राममनोहर, 'मार्क्स, गांधी एण्ड सोशयलिज्म', पृ. 433 ।
4. प्रसाद महादेव, 'गांधी का समाज दर्शन', हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, 1989, पृ. 118 ।
5. गुप्ता सुगतदास, 'गांधियन कन्स्ट्रक्ट्स फॉर ए न्यू सोसाइटी', गांधी मार्ग 4 अक्टूबर, 1970 पृ. 336 ।
6. वही ।
7. वही, पृ. 5 ।
8. लेकी, जार्ज, 'रिवोल्यूशन, वायलेंट आर नान वायलेंट', गांधी मार्ग, जनवरी, 1971, पृ. 7 ।

9. वही, पृ. 7-8 ।

10. नारायण जयप्रकाश, 'गांधी एण्ड सोशल रिवोल्यूशन' गांधी मार्ग, अक्टूबर 1969, पृ. 7 ।

11. सुगतदास 'गांधियन, कन्स्ट्रक्ट्स फॉर ए न्यू सोसाइटी, गांधी मार्ग, अक्टूबर 1970 पृ 333 ।

12. डगलस, जेम्स डब्लू; 'रिवोल्यूशन थ्रू सोलिट्यूड' गांधी मार्ग, अक्टूबर, 1971 पृ. 259 ।

13. चटर्जी, विश्वबन्धु, 'गांधी दर्शन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन' सिंह, रामजी, (सम्पादक) 'आधुनिक युग में गांधी विचार की सार्थकता, 1968, पृ. 29 ।

14. लेपियर रिचर्ड टी, 'सोशल चेंज', मैग्रा हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क, 1965 पृ. 5 ।

15. वही, ।

16. यंग इण्डिया, 1-11-28 पृ. 78 ।

17. लेपियर, रिचर्ड टी, 'सोशल चेंज' पृ. 9 ।

18. माडर्न रिव्यू, 1925, पृ. 412 ।

19. वही ।

20. यंग इण्डिया, 2.7:31 पृ. 162 ।

21. मार्डन रिव्यू, 1935, पृ. 412 ।

22. नारायण जयप्रकाश, 'गांधी एण्ड सोशल रिवोल्यूशन' गांधी मार्ग, अक्टूबर 1969, पृ. 8 ।

23. Ostergard, Geoffrey, currell, Melvillei, the gentle Anarchists, (oxford, the clarendon Press, 1971) पृ. 33 ।

24. वही, पृ. 37-43 ।

25. वही, पृ. 37 ।

26. वही, पृ. 39 ।

27 वान्डूरान्ट जे.बी. 'द कान्क्वेस्ट ऑफ वायलेंस', पृ. 172 ।

28. हरिजन, 11-6-47, पृ. 172, एवं 'सेलेक्शन फ्राम गांधी', एन.के.बोस, पृ. 212 ।
29. वही, पृ. 172 ।
30. वान्डूरान्ट, जे.वी. उपरोक्त, पृ. 178 ।
31. वही, पृ. 105 ।
32. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1975 पृ. 450 ।
33. वही ।
34. यंग इण्डिया, 12.2.25, पृ. 60 ।
35. वही ।
36. वही ।
37. यंग इण्डिया, 2.1.30, पृ. 4 ।
38. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 452 ।
39. वहीं ।
40. वहीं ।
41. यंग इण्डिया, 30.4.1945 ।
42. वहीं, 29.10.31 ।
43. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 452 ।
44. वहीं ।
45. वहीं, पृ. 453 ।
46. सिंह रामजी, 'गांधियन एप्रोच टू रिवोल्यूशन,' 'गांधी एण्ड सोशल साइन्स', पृ. 69 ।
47. वही, पृ. 63-71 ।
48. नारायण जयप्रकाश, 'गांधी एण्ड सोशल रिवोल्यूशन' पृ. 11 ।
49. एंगेल्स एफ., 'डाइलेक्टिस ऑफ नेचर', पृ. 405 ।
50. यंग इण्डिया, 15.11.28 पृ. 381 ।
51. हरिजन, 5.12.36- पृ. 338 ।
52. भावे, विनोबा, 'सर्वोदय-विचार और स्वराज्य शास्त्र' पृ. 130 ।

53. वहीं पृ. 128 ।
54. वही, पृ. 126 ।
55. वही, पृ. 137 ।
56. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृ. 93 ।
57. वही, पृ. 60 ।
58. वही, पृ. 65 ।
59. भावे विनोबा, धम्मपद, वाराणसी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, 1959, पृ. 1-3 ।
60. भावे, विनोबा, 'सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र', पृ. 128 ।
61. वही, पृ. 129 ।
62. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृ. 85 ।
63. वही ।
64. वही, पृ. 46 ।
65. वही, पृ. 34 ।
66. भावे, विनोबा, 'सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र', पृ. 161 ।
67. वही ।
68. वही, पृ. 167 ।
69. वही, पृ. 169 ।
70. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 458 ।
71. गांधी, महात्मा, 'हिन्द स्वराज्य', सस्ता साहित्य मण्डल, 1958, पृ. 54-57 ।
72. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृ. 112 ।
73. वही, 113 ।
74. वही, 112 ।
75. वही, पृ. 133 ।
76. वही, पृ. 133-134
77. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 460 ।
78. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृ. 112 ।
79. भावे, विनोवा, 'सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र' पृ. 129 ।

80. वही, पृ. 102 ।
81. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद' पृ. 111 ।
82. वही, पृ. 112 ।
83. नारायण, जयप्रकाश, 'गांधी, विनोबा एण्ड भूदान मूवमेंट', गांधी मार्ग, 1960, पृ. 35 ।
84. सिंह, रामजी, 'द चेंज ऑफ हर्ट, ए स्टडी इन गांधीज्म,' 1965, पृ. 17 ।
85. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद' पृ. 13 ।
86. वही ।
87. सिंह, रामजी, उपरोक्त, पृ. 13 ।
88. वही ।
89. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 463 ।
90. वही ।
91. वही ।
92. चटर्जी, विश्वबन्धु, 'गांधी-दर्शन की दृष्टि से हृदय-परिवर्तन, आधुनिक युग में गांधी विचार की सार्थकता (सं.) सिंह रामजी, पृ. 33 ।
93. वही ।
94. वही ।
95. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 464 ।
96. वही ।
97. वही, पृ. 465 ।
98. यंग इण्डिया, 8-11-1920 ।
99. वान्डूरान्ट जे., 'कान्क्वेस्ट ऑफ वायलेंस', पृ. 27 ।
100. चटर्जी, विश्वबन्धु, 'गांधी-दर्शन की दृष्टि से हृदय-परिवर्तन', आधुनिक युग में गांधी विचार की सार्थकता (सं.) सिंह रामजी, पृ. 31 ।
101. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 467 ।
102. वही ।
103. विनोबा का चिंतन, नवम्बर-दिसम्बर 1968 पृ. 459 ।

104. वही, पृ. 469 ।
105. सिंह दशरथ, उपरोक्त, पृ. 469 ।
106. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृ. 100-101 ।
107. वही ।
108. वही ।
109. भावे, विनोबा, 'गीता-प्रवचन', पृ. 67 ।
110. सिंह रामजी, 'द चेंज ऑफ हर्ट, ए स्टडी इन गांधीज्म', पृ. 17 ।
111. वही, पृ. 249 ।
112. यंग इण्डिया, 26-11-31 पृ. 369 ।
113. हरिजन, 15.7.39 ।
114. भावे विनोबा, 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृ. 38-39 ।
115. वही ।
116. भावे विनोबा, 'लोकनीति', पृ. 14 ।
117. सिंह रामजी, उपरोक्त, पृ. 17 ।
118. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 475 ।
119. दिवाकर, आर.आर., 'सत्याग्रह', बाम्बे हिन्द किताब 1946, पृ. 47 ।
120. वही ।
121. नारायण श्रीमन् (सं.) 'द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', नवजीवन प्रेस अहमदाबाद, 1968 वाल्यूम 4, पृ. 371 ।
122. सीतारमैय्या पट्टाभि, 'गांधी एण्ड गांधीज्म', पृ. 170 ।
123. दिवाकर, आर.आर., 'सत्याग्रह', पृ. 47 ।
124. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 500 ।
125. बंद्योपाध्याय जे., 'सोशल एण्ड पोलिटिकल थॉट ऑफ गांधी', पृ. 203-204 ।
126. वान्डूरान्ट, जे. 'कनक्वेस्ट ऑफ वायलेंस', पृ. 43 ।
127. नारायण श्रीमन्, (सं.) 'द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', वाल्यूम 4 पृ. 335।

128. नारायण जयप्रकाश, 'गांधी एण्ड सोशल रिवोल्यूशन' गांधी मार्ग, 1969 पृ. 7 ।
129. लेकी जार्ज, 'रिवोल्यूशन; 'वायलेंट आर नॉन वायलेंट', गांधी मार्ग, 1971, पृ. 14 ।
130. कृष्णकुमार, (सं.) 'डेमोक्रेसी एण्ड नॉन वायलेंस', नई दिल्ली, गांधी पीस फाउन्डेशन, 1968, पृ. 104 ।
131. वही ।
132. वही ।
133. वही पृ. 107 ।
134. वही ।
135. वही, 129-30 ।
136. वही, पृ. 13 ।
137. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन' पृ. 505 ।
138. वही ।
139. वही ।
140. वही ।
141. कृष्णकुमार, (संपा) 'डेमोक्रेसी एण्ड नॉन वायलेंस', पृ. 133 ।
142. वही, पृ. 147 ।
143. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 506 ।
144. पाण्डेय जनार्दन, 'सर्वोदय का राजनीतिक दर्शन', जानकी प्रकाशन पटना, 1979 पृ. 145 ।
145. राम मनोहर लोहिया, लोहिया के विचार (सं.) ओंकार शरद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978, पृ. 215 ।
146. श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रंथ समारोह समिति प्रकाशन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कालजयी गांधी', 1995, पृ. 140 ।
147 वही पृ. 141 ।
148. वही ।
149. गांधी, 'सत्याग्रह', पृ. 33 ।

150. वही, पृ. 34 ।
151. वही, पृ. 35 ।
152. हरिजन, 25 जुलाई 1941 ।
153. यंग इण्डिया, 30 जनवरी, 1930 ।
154. हरिजन, 14 जुलाई, 1946 ।
155. सिह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 507 ।
156. तेन्दुलकर जी.डी., 'दि महात्मा', वाल्यूम, 7 पृ. 100 ।
157. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोवा की देन', पृ. 508 ।
158. वही, पृ. 509 ।
159. वही पृ. 510 ।
160. वही ।
161. वर्मा, वेद प्रकाश, 'दर्शन विवेचना', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 1989, पृ. 179 ।
162. वही ।
163. वही ।
164. यंग इण्डिया, 17 अप्रैल 1930 ।
165. वर्मा वेद प्रकाश, 'दर्शन विवेचना' पृ. 179 ।
166. केस, सी.एम., 'नॉन वायलेंट को अर्शन', पृ. 406 ।
167. वही ।
168. हरिजन, 13 जुलाई 1940, पृ. 198 ।
169. वर्मा, वेद प्रकाश, 'दर्शन विवेचना', पृ. 180 ।
170. सुमन 'रामनाथ' (सं.) 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 20 ।
171. हरिजन 14 अक्टूबर 1930, पृ. 303 ।
172. प्रसाद महादेव, 'महात्मा गांधी का समाज दर्शन', हरियाण ग्रंथ अकादमी चण्डीगढ़, 1989 पृ. 32 ।
173. हरिजन, 12 अक्टूबर, 1935, पृ. 177 ।

175. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 512 ।

176. वही ।

177. वही, पृ. 517 ।

178. वही, पृ. 518 ।

179. बंद्योपाध्याय जे., 'सोशल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ गांधी', पृ. 314 ।

180. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', पृ. 497 ।

181. वही ।

182. बंद्योपाध्याय जे., 'सोशल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ गांधी', पृ. 314 ।

183. वही ।

184. वही ।

185. वही, पृ. 315 ।

* * * * * * * *

तृतीय अध्याय

स्वदेशी की अवधारणा

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से स्वदेशी की अवधारणा का अंत:सम्बन्ध पहली बार 1905 में स्थापित हुआ। बंग-भंग के पश्चात् स्वदेशी की जो धारा फूटी वह राष्ट्रीय आन्दोलन पर्यन्त प्रवाहमान रही। इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई दिशा व ऊर्जा प्रदान की। असहयोग आन्दोलन के दौरान तो स्वदेशी को एक सचेत तथा पूरक राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में देखा गया। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्वदेशी आन्दोलन का इतिहास भले ही नवीन हो किन्तु इसकी संकल्पना व दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। 'स्वराज्य' की कल्पना के मूल में ही 'स्वदेशी' की भावना सन्निहित है।[1] स्वदेशी की मर्यादा के परिवेश में किसी देश की जीवनधारा, उसकी लय रूपायित होती है। यही उसकी आर्थिक, राजनीतिक आध्यात्मिक चेतना का मुख्य प्रेरणास्रोत भी होती है। वस्तुत: स्वदेशी की अवधारणा भारतीय जीवन-दर्शन में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रचलित थी तथा यह केवल हमारी प्रौद्योगिकी ही नहीं वरन् जीवन दर्शन बन गया था[2]। स्वदेशी यानि आदमी और प्रकृति के बीच रागात्मक सम्बन्ध, आदमी और आदमी के बीच सीधा और रागात्मक सम्बन्ध, उत्पादन और उपभोग के बीच सीधा रिश्ता तथा मनुष्य और व्यवस्था का सीधा और सच्चा संतुलन। प्राचीन भारत की अरण्य संस्कृति में मानव के साथ पशु-पक्षियों का भी पारिवारिक सम्बन्ध था। पृथ्वी के अनुचित दोहन का प्रश्न ही नहीं था। स्थायित्व का अर्थतन्त्र और स्वावलम्बन तथा स्वदेशी की ब्यूह-रचना स्वत: फलित होती थी। प्रौद्योगिकी में मानव का अलगाव नहीं था। यही कारण था कि प्राचीन भारत में भौतिक सम्पन्नता, बौद्धिक प्रखरता और आध्यात्मिक उन्नयन का सुन्दर समन्वय था। किन्तु वर्तमान समय में समूची सृष्टि में सही संतुलन की जरुरत आ पड़ी है। यह सन्तुलन मानव और प्रकृति, व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और व्यवस्थाओं का होगा। लेकिन यह तभी सम्भव है जब हम स्वदेशी की अवधारणा को सही अर्थों में समझे और उसका परिपालन करें।

स्वदेशी की संकल्पना का आधार गीता का 'स्वधर्म' और बाइबिल का 'लव दाई नेबर' कहा जा सकता है।[3] गीता में कहा गया है-

"श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।[4]" गीता 3,35।।

गांधी जी के अनुसार गीता में जो स्वधर्म के लिए कहा गया है, वह समान रुप से स्वदेशी पर भी लागू होता है, क्योंकि स्वदेशी निकटवर्ती परिवेश के प्रति स्वधर्म ही है।[5] स्वदेशी के महत्व को देखकर गांधी जी ने इसे धर्म और व्रत का रूप दिया। स्वदेशी की संकल्पना गांधी जी के एकादश व्रत में सम्मिलित थी। किन्तु स्वदेशी की अवधारणा के सम्बन्ध में बहुत परिभ्रान्ति है। अतएव सर्वप्रथम हम इसके अर्थ पर विचार करेंगे। स्वदेशी एक ऐसी व्यापक अवधारणा है जिसमें- नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, भाषीय, धार्मिक और आध्यात्मिक- सभी प्रकार के अर्थ एव आयाम संघटित हैं। फिर भी सब मिलाकर यह सामाजिक नैतिकता का ही प्रत्यय है।[6] वस्तुत: स्वदेशी की अवधारणा को स्पष्ट व व्याख्याति करने में गांधीवादी संकल्पना अत्यंत महत्पूर्ण है। अतएव सर्वप्रथम हम गांधी जी की स्वदेशी विषयक अवधारणा का विवेचन व विश्लेषण करेंगे।

गांधी जी के अनुसार स्वेदशी में व्यापक और गम्भीर अर्थ समाया हुआ है। इसका अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि स्वदेश की वस्तुओं का उपयोग किया जाय। उसका समावेश तो स्वदेशी में हो ही जाता है। किन्तु उसके सिवाय और जिस चीज का समावेश उसमें होता है, वह ज्यादा बड़ी और ज्यादा महत्वपूर्ण है। हम अपने बल जूझें, यह स्वदेशी है। अपने बल में हमारे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों तरह के बल का समावेश हो जाता है।[7] इस प्रकार स्वदेशी स्वावलम्बन व आत्मनिर्भरता का पर्याय है। गांधी जी का मत है कि स्वदेशी हमारी वह भावना है जो दूरवर्ती का निषेध कर हमारे निकटवर्ती परिवेश का उपयोग एवं सेवन करने के लिए हमें प्रतिबद्ध करती है।[8] इस प्रकार (1) धर्म के क्षेत्र में मुझे अपने पैतृक धर्म का ही पालन करना चाहिए, अर्थात धर्म में अपने निकटवर्ती परिवेश का उपयोग करना चाहिए। यदि मुझे लगे की मेरा धर्म सदोष है तो उसे

दोषमुक्त कर उसकी सेवा करनी चाहिए। (2) राजनीति के क्षेत्र में मुझे अपनी देशी पद्धति का प्रयोग करना चाहिए और उसके जो दोष प्रमाणित हो चुके हों, उन्हें दूर कर उसकी सेवा करनी चाहिए। (3) अर्थनीति के क्षेत्र में· मुझे उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए जो निकटवर्ती पड़ोसियों द्वारा निर्मित की गयी हो और उन उद्योग धन्धों की कमियों को दूर कर उन्हें कार्यक्षम एवं परिपूर्ण बनाकर उनकी सेवा करनी चाहिए।[9] गांधी जी के अनुसार स्वदेशी एक धार्मिक नियम है जिसका पालन उससे होने वाले सारे शारीरिक कष्टों के बावजूद भी होना चाहिए।[10] आध्यात्मिकता के उच्चतम विन्दु पर गांधी के लिए स्वदेशी का अर्थ भौतिकवादी प्रवृत्तियों को नियंत्रित व उन्मूलित करना है। वस्तुतः अपने आत्यतिंक एवं आध्यात्मिक अर्थ में, 'स्वदेशी के माने आत्मा की सांसारिक दासता से मुक्ति है......स्वदेशी का एक पुजारी सृष्टि के साथ अपने तादात्म्य के प्रयास में भौतिक शरीर के बन्धन से मुक्ति का अन्वेषक होता है।[11] इस प्रकार नैतिक एवं आध्यात्मिकं सन्दर्भो में गांधी के अनुसार स्वदेशी आत्मा का धर्म है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे स्थूल सम्बन्धों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्न रुप है। जीवन मात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग करता है।[12] गांधी जी का यह दृढ़ विश्वास था कि यदि स्वदेशी को व्यवहार में उतारा जाय तो मानवता के स्वर्णयुग की स्थापना की जा सकती है।[13]

वस्तुतः स्वदेशी के बारे में गांधी जी की संकल्पना ब़ड़ी ही उल्लेखनीय है। इस माध्यम से उन्होंने आत्मनिर्भरता और सर्वस्तिवाद के बीच द्वन्दात्मक सम्बन्धों की रचना की कोशिश की थी।[14] गांधी जी के लिए इन दोनों में कोई विरोध नही था। गांधी जी के स्वदेशी व्रत के अनुसार अपने देश के धर्म, इसकी भाषा, राजनैतिक-पद्धति, और उपयोग की वस्तुओं को अंगीकार करना आवश्यक माना जाता है।[15] परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि स्वदेशी एक वहिष्कारक धारणा है। वस्तुतः यह एक भावात्मक प्रत्यय है। जो कुछ इसमें वहिष्कारक तत्व है वे मात्र मानव की

सेवा-शक्ति की सीमा की वैज्ञानिक स्वीकृति है।[16] वहिष्कार के पीछे कोई घृणा का भाव नहीं है।[17] यह कोई स्वार्थजनित प्रत्यय नहीं है। यदि इसमें किसी प्रकार का स्वार्थ अन्तर्निहित है, तो वह उच्च कोटि का स्वार्थ है जो उच्चतम कोटि के परार्थ से भिन्न नहीं है।[18] विशुद्ध अर्थ में यह सार्वभौम सेवा का शिखर है[19], क्योंकि पड़ोसी धर्म के पालन करने पर एक दूसरे के प्रसंग में समस्त जगत की सेवा हो जाती है।[20] स्वदेशी एक आध्यात्मिक अनुशासन भी है क्योंकि इसमें आत्मा का पार्थिव बन्धन से मुक्ति और विश्वात्मा के साथ एकाकार का भाव है।[21]

स्वदेशी व्रत के अनुसार सभी प्रकार के विदेशी सामानों का त्याग न कर उन्हीं वस्तुओं का त्याग किया जाता है जिनका उत्पादन अपने देश में होता है तथा जिनके उपयोग के बिना हमारे समाज के कुछ अंग अपनी आजीविका खो देते हैं। हम अपनी आवश्यकता की चीजों को विदेशों से मंगा सकते. हैं, विदेशी पूंजी और प्रतिभा का उपयोग कर सकते हैं, शर्त केवल इतनी ही है कि उससे अपने देश के नागरिकों की प्रगति अवरूद्ध[22] न हो और उसका नियंत्रण भारत के द्वारा हो।[23] गांधी का स्वदेशी व्रत घृणा, संकीर्णता, स्वार्थ, प्रतिद्वन्दिता और भौतिकता आदि दोषों से मुक्त है। यह अहिंसा और प्रेम का ही पर्याय है। यह हमारे स्वभाव में ही व्याप्त है परन्तु अज्ञानवश हम स्वार्थ और भौतिकता में पड़कर इसका उल्लंघन करते हैं। व्रत के द्वारा हम इसे अपने जीवन में उतार सकते हैं। इसके पालन से एक ओर अपनी संकल्प शक्ति बढ़ती है, दूसरी ओर समाज की अर्थव्यस्था भी टिकाऊ बनी रहती है।[24]

विनोबा गांधी की स्वदेशी धारणा का और अधिक स्पष्टीकरण करते हैं। उनके अनुसार स्वदेशी स्वधर्म के सिद्धान्त के साथ-साथ स्वावलम्बन का सिद्धान्त[25] है। चूंकि 'स्वदेशी' का 'देश' उपलक्षण है अतः इसके अन्तर्गत भाषा, रीतिरिवाज, वस्त्र, विद्या इत्यादि कई चीजों का समावेश हो जाता है।[26] विनोबा के अनुसार जैसे अहिंसा धर्म की मर्यादा है उसी प्रकार स्वदेशी व्यवहार की मर्यादा है।[27] स्वदेशी व्रत का पालन करना मनुष्य का जन्मसिद्ध कर्तव्य है।

गांधीजी ने नीतिपरक समाज-विज्ञानी के रूप में उन देशों के लिए सबसे

अधिक उपयुक्त 'स्वदेशी' की अवधारणा को जन्म दिया जो स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे और विकास का एक ऐसा ढाँचा खोज रहे थे जिसके लिए किसी दूसरे देश पर निर्भर न रहना पड़े।[28] 'स्वदेशी' से गांधीजी का आशय न तो संकीर्ण राष्ट्रीयतावाद से था और न वह इसे विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना मानते थे, जैसा कि अक्सर समझा जाता है, या कुछ समकालीन व्यक्तियों को प्रतीत हुआ था। पहले यह इसी अर्थ में शुरू तो हुआ था लेकिन बाद में शीघ्र ही इससे यह आशय निकालना छोड़ दिया गया था। गांधी जी के लिए स्वदेशी का आशय था व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक स्तरों पर एक अत्यन्त ऊँचे स्तर की आत्मनिर्भरता। अनेक लोगों ने स्वदेशी की अवधारणा को लेकर गांधीजी की उनके जीवन-काल में ही आलोचना की, लेकिन उन्होंने सत्य की खोज करने वाले और एक ऐसे व्यक्ति की भाँति जो अपने अनुभवों को ही प्रमाण मानता हो और जो गरीबी से दबी-पिसी जनता की समस्याओं से जूझ रहा हो, स्वदेशी को एक ऐसी अपूर्व संकल्पना के रूप में प्रस्तुत किया था जहाँ अनेक विचारधाराएँ और तदनुसार सम्भावित क्रियाकलाप आकर मिल जाते हैं।[29]

'स्वदेशी' से गांधीजी का आशय कम-से-कम तीन बातों से था।[30] पहली, समाज की बुनियादी इकाईयों, गाँव या अन्य समुदायों की आत्म-निर्भरता, जहाँ उत्पादन, एक सीमा तक, खपत के लिए होता हो, न कि विनिमय के लिए। विनियम के लिए उत्पादन इसके बाद का चरण था। एक गाँव से दूसरे गाँव का या गाँवों और शहरों के बीच सम्पर्क विनिमय के लिए उत्पादन द्वारा स्थापित होता था जो खपत के लिए उत्पादन में आवश्यकतानुसार कमी-बेशी करने की निश्चित क्षमता प्राप्त कर लेने के बाद किया जाता था। खपत के लिए उत्पादन का 'स्वदेशी' का सिद्धान्त गाँवों पर शहरों के आधिपत्य जमाने के विरोध में भी था। 'स्वदेशी' का दूसरा अर्थ था कि राष्ट्र के रूप में भारत और दूसरे राष्ट्रों के बीच समान सिद्धान्तों का व्यवहार किया जाये, जिससे न तो हिन्दुस्तान का और न हिन्दुस्तान द्वारा अन्य राष्ट्रों का किसी प्रकार का शोषण हो। गांधीजी दोनों पक्षों के प्रति सावधान थे। 'स्वदेशी' का तीसरा अर्थ आज के विश्व के लिए और अधिक महत्वूपर्ण है।

विकास के दोनों-मार्क्सवादी और कीन्सवादी-ढाँचे, जिनमें पहला पूर्ति पक्ष और दूसरा माँग पक्ष की दृष्टि से अब व्यक्तिगत या सामूहिक आवश्यकताओं में कृत्रिम वृद्धि पर आधारित हैं। लेकिन विश्व के लिए यह स्थिति अनर्थकारी है कि माँग में कृत्रिम वृद्धि के आधार पर आधी जनसंख्या घोर निर्धनता में जीवन-यापन करे और बाकी जनसंख्या उतनी ही घोर समृद्धि का भोग करे। इस समस्या का इससे अधिक अनर्थकारी पहलू यह है कि पूंजीवादी और साम्यवादी देशों की समृद्धिजन्य प्रकृति निर्धन देशों के विशिष्ट वर्ग की प्रकृति बन गयी है।

वस्तुत: स्वदेशी की गांधीवादी धारणा में व्यापक सन्दर्भ व सम्पूर्णता निहित है। गाधी जी ने अपने आर्थिक स्वराज्य के प्रत्यय में स्वदेशी की भावना का निरूपण करते हुए लिखा है कि "भारत स्वदेशी की भावना के द्वारा स्वतंत्र हुआ है और अब उसका आर्थिक विकास भी इसी भावना के द्वारा हो सकता है। स्वदेशी की भावना संसार के सभी स्वतंत्र देशों में है। स्वदेशी वही है जो शुद्ध स्वदेशी हो- किसी भी भारतीय को अपने देश की बनी वस्तु का व्यवहार करने के लिए उपदेश करना पड़े तो यह उसके लिए शर्म की बात है।[31] उनके अनुसार "स्वदेशी का अर्थ है कि मुझे अपने पड़ोसियों द्वारा बनाई गयी वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए और उन उद्योगों की कमियों को दूर करके उन्हें ज्यादा सम्पूर्ण और सक्षम बनाकर उनकी सेवा करनी चाहिए। अगर भारत में व्यापार की कोई वस्तु विदेशों से न लायी गयी होती तो हमारी भूमि में दूध और मधु की नदियां बहती होतीं। भारत अपने जीवन का उत्तम निर्वाह तभी कर सकता है जब वह अपने प्रयत्न से या दूसरों की मदद लेकर अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ अपनी सीमा में उत्पन्न करने लगे... उसे नाशकारी प्रतिस्पर्धा के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। धर्म के अनुसार प्रत्येक भारतवासी को भारत में बने हुए कपड़े पहनना चाहिए और भारत में ही पैदा हुआ अन्न खाना चाहिए, तो फिर वे कोई दूसरा कपड़े पहनने या दूसरा अन्न खाने से इन्कार कर देंगे। अपनी सम्पत्ति का उपयोग हम इस तरह करें कि उससे पड़ोसी को कोई कष्ट न हो।"[32]

गांधी जी के अनुसार "स्वदेशी स्वावलम्बन तथा स्वराज्य का पर्यायवाची सिद्धान्त है। स्वदेशी का अभिप्राय विशद अर्थ में यही है कि विदेशी वस्तुओं का

परित्याग और गृह निर्मित वस्तुओं का प्रयोग, ताकि गृह-उद्योग का संरक्षण हो एवं विशेष रुप से उन उद्योगों का जिनके अभाव में भारत भिक्षुक बन जायेगा- हमारा अवश्यमेव संरक्षण उद्देश्य है।[33] गांधी जी की दृष्टि में किसी भी चीज को स्वदेशी तभी कहा जा सकता है जबकि यह सिद्ध हो जाय कि वह जनसमुदाय के लिए हितकारी है और उसमें काम करने वाले कारीगर और मजदूर दोनों हिन्दुस्तानी है।[34] उनके अनुसार "स्वदेशी व्रतधारी अपनी परिस्थितियों को पूर्ण रुप से समझकर स्थानीय उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के उपयोग, चाहे वे घटिया एवं उच्च कीमत की ही क्यों न हों, उपभोग करेगा। अन्य स्थानों की निर्मित वस्तुओं पर अपनी आस-पास की वस्तुओं को वरीयता देगा और अपने पड़ोसी की सहायता करेगा। यही स्वदेशी धर्म है। इसी से हम पूर्ण समर्थ और स्वावलम्बी होंगे।[35] उनके अनुसार "स्वदेशी के विचार में अपने पड़ोसी की सेवा की भावना निहित है। स्वदेशी धर्म के पालन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम विदेशी चीजों से घृणा करें। गांधी जी तो मानव मात्र की सेवा की बात करते थे। स्वदेशी का सच्चा उपासक कभी भी विदेशी से घृणा नहीं कर सकता है। कोई चीज विदेशी है इसीलिए उसका बहिष्कार नहीं करना चाहिए। परन्तु उन सब विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार किया जाय जिनके आयात से तत्सम्बन्धित स्वदेशी हितों को नुकसान पहुँचने की सम्भावना हो। जो वस्तुएँ अपने देश में नहीं हैं उनको मांगना स्वदेशी के अन्तर्गत आता है।[36]

गांधी जी के अनुसार स्वदेशी धर्म को जानने वाला और उसका पालन करने वाला अपने कुएं में डूब नहीं जायेगा। जो वस्तु अपने देश में नहीं बन सकती है या बड़ी कठिनाई से बन सकती है, उसे विदेशियों के प्रति द्वेष रखने के कारण यदि वह बनाने लगे तो वह स्वदेशी धर्म नहीं होगा। स्वदेशी धर्म पालन करने वाला मनुष्य विदेशियों से कभी द्वेष करेगा ही नहीं। अर्थात् पूर्ण धर्म में किसी के प्रति द्वेष की गुंजाइश ही नहीं है। वह संकुचित नहीं, विशाल और उदार धर्म है। वह प्रेम से, अहिंसा से उत्पन्न हुआ है।[37] वस्तुतः गांधी का बहिष्कार आन्दोलन किसी देश-विशेष के प्रति घृणा या नफरत पर आधारित नहीं था वरन् वह शोषण, अन्याय, अत्याचार का बहिष्कार था। इस सम्बन्ध गांधी जी से सम्बन्धित एक

दृष्टान्त देना प्रासगिक होगा। गांधी जी एक बार अस्पताल से ठीक होकर निकले तो उनके साथ में चल रही नर्स ने व्यंग्य करते हुए कहा कि आप तो हर एक अंग्रेजी चीज के प्रबल बहिष्कारवादी हैं? पर आपकी जान शायद एक सर्जन की कुशलता से बची, जिसके हाथ में अंग्रेजी औजार थे और जो अंग्रेजी दवाइयां लगाता था। साथ ही, एक अंग्रेज नर्स भी उसमें शामिल है। आपको मालूम है, जब आप यहाँ लाये जा रहे थे, तब आपके सिर पर एक अंग्रेजी छाता तना हुआ था? इस सन्दर्भ में गांधी जी का प्रत्युत्तर था कि 'क्या आपको पता है कि मै केवल इसलिए किसी चीज का बहिष्कार नहीं करता कि वह अंग्रेजी है। मैं तो केवल सारे विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करता हूँ, क्योंकि विदेशी कपड़ो के भारत में जड़ जमाने के कारण मेरे करोड़ो देशवासी भिखारी हो गये है।"[38] यह दृष्टान्त स्पष्ट करता है कि गांधी जी के देश प्रेम में उच्चकोटि का मानवतावाद ही समाहित था न की घृणा व वैमनस्य। गांधी जी स्वावलम्बन के पक्षपाती थे किन्तु, उनके स्वावलम्बन का अर्थ कूपमण्डूकता नहीं था। वस्तुत: स्वावलम्बी बनने का अर्थ पूर्णतया स्वयंपूर्ण बनना नहीं है। किसी भी हालत में हम सब चीजें नहीं पैदा कर सकते और न हमें करना है। हमको तो पूर्ण स्वावलम्बन के नजदीक पहुँचना है। जो चीजें हम पैदा नहीं कर सकते उन्हें पाने के लिए बदले में देने को हमें अपनी आवश्यकता से अधिक चीजें पैदा करनी होंगी।[39] वास्तव में जब समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए परावलम्बन आवश्यक होता है तब वह परावलम्बन नहीं रह जाता परन्तु सहयोग हो जाता है। गांधी जी स्वदेशी की संकल्पना का परिपालन प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय, समाज व राष्ट्र के लिए अनिवार्य मानते थे। सभी देश को स्वदेशी धर्म का पालन करना चाहिए। हम देखते है कि सभी देश अधिकतम निर्यात और अल्पतम आयात करना चाहते हैं। इस आयात निर्यात के सिद्धान्त में पूंजीवाद और शोषण की भावना छिपी है परन्तु गांधी जी स्वदेशी के विचार को नि:स्वार्थ भावना से देखते थे। उनके अनुसार- "स्वदेशी सर्वकालीन सिद्धांत है। स्वदेशी की उपेक्षा के परिणामस्वरूप मनुष्य जाति ने अपरिमित दु:ख भोगा है। स्वदेशी का अर्थ है अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में किया जाय और उन्हीं का वितरण उपभोग किया

जाय।"[40] इस प्रकार गांधी जी की स्वदेशी भावना मानव कल्याण पर आधारित है।

गांधी जी के आर्थिक स्वराज्य यानी स्वदेशी का एक मूल प्रत्यय 'श्रम' भी है। उनके अनुसार "जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाण स्वरुप हो जाता है। यह श्रम तो खेती है। परन्तु आज की स्थिति में सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखते हुए दूसरा श्रम, जैसे-कताई-बुनाई, बढ़ई गिरी, लुहारी आदि सब किये जा सकते हैं। हम सब भंगी है यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए। जो समझे हों वे कायिक- श्रम का आरम्भ पाखाना साफ करने से करें। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोग न होने की बात ही क्या है?[41] शरीर श्रम की उपादेयता बताते हुए गांधी जी कहते हैं "अपने देश में जो भयानक गरीबी और बेकारी है उसे देखकर मुझे रोना आया लेकिन मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इस स्थिति के लिए हमारी अपनी उपेक्षा और अज्ञान ही जिम्मेदार है। शरीर-श्रम करने में जो गौरव है उसे हम नहीं जानते। ईश्वर ने हर एक को काम करने की और अपने रोज की रोटी से ज्यादा कमाने की क्षमता दी है। किसी भी काम को हम छोटा न मानें। जरूरत इस बात की है कि ईश्वर ने हमें जो हाथपांव दिये हैं हम उनका उपयोग करने के लिए तैयार रहें।[42] गांधी जी पुन: कहते है, "महान प्रकृति की इच्छा तो यही है कि हम अपनी रोटी पसीना बहाकर कमायें। इसलिए जो आदमी अपना एक मिनट भी बेकारी में बिताता है वह इस हद तक अपने पड़ोसियों पर बोझ बन जाता है।[43] बौद्धिक-श्रम और शारीरिक श्रम में भेद को स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है- "शरीर की आवश्यकताएं शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही संतोष के लिए है, उसका पुरस्कार कभी नहीं मांगा जाना चाहिए। आदर्श राज्य मे डाक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेंगे; अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के धर्म का पालन करने से सामाजिक रचना में एक शान्त क्रान्ति हो जायेगी।[44]

'श्रम' व्यक्तित्व के विकास एवं आत्मनिर्भरता के लिए अपरिहार्य है, और 'चरखा' व 'खादी' आत्मनिर्भरता एवं स्वतंत्रता के पर्याय है।

जी ने चरखे की उपयोगिता बताई है। उनके शब्दों में "जब मैं सोचता हूँ कि यज्ञार्थ किये जाने वाले शरीर-श्रम का सबसे अच्छा और सबको स्वीकार्य रुप क्या होगा, तो मुझे कताई के सिवा और कुछ नहीं सूझता। मैं इससे ज्यादा उदात्त और राष्ट्रीय किसी दूसरी चीज की कल्पना नहीं कर सकता कि प्रतिदिन एक घंटा हम सब कोई ऐसा परिश्रम करें, जो गरीबों को करना ही पड़ता है और इस तरह उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव जाति के साथ अपनी एकता साधें। मैं भगवान की इससे अच्छी पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर मैं गरीबों के लिए गरीबों की ही तरह परिश्रम करूँ। चरखा दुनियाँ के धन का अधिक समानतापूर्ण बंटवारा सिद्ध करता है।[45] चरखे की महत्ता के सम्बन्ध में वे कहते- "चरखे का संदेश उसकी परिधि से कहीं ज्यादा व्यापक है। उसका संदेश सादगी, मानव-सेवा, अहिंसामय जीवन तथा गरीब और अमीर, पूंजी और श्रम, राजा और किसान के बीच अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित करने का संदेश है।[46]

इस प्रकार गांधी जी के अनुसार खादी देश में आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का प्रतीक है। वे लिखते है- "मेरे विचार में खादी भारत की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है और जवहारलाल नेहरू के काव्यमय शब्दों में तो वह 'भारत की आजादी की पोशाक' है। फिर खादी-वृत्ति का अर्थ हैं' जीवन के लिए जरुरी चीजों की उ़त्पत्ति और उनके बंटवारे का विकेन्द्रीकरण[47] साथ ही गांधी जी का यह भी स्पष्ट मत था कि खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है किन्तु इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं।

वास्तव में स्वदेशी की भावना के विकास द्वारा गांधी जी कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास करना चाहते थे, जिससे आर्थिक समानता स्थापित करके सच्चे अर्थो में आदर्श लोकतन्त्रात्मक राज्य व्यवस्था का निर्माण किया जा सके। अर्थव्यवस्था में आर्थिक समानता पर बल देते हुए अर्थव्यवस्था गांधी जी स्पष्ट कहते हैं कि "मेरी राय में न सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनियाँ की अर्थरचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में, हर एक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहनने

की जरुरतें पूरी कर सके और यह आदर्श निरपवाद रुप में तभी कार्यान्वित किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहें। वे हर एक को बिना किसी बाधा के उसी तरह उपलब्ध होने चाहिए जिस तरह की भगवान का दिया हुआ हवा और पानी हमें उपलब्ध हैं, किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाये जाने वाले व्यापार का साधन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर एकाधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुःखी देश में बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी जो गरीबी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही है।[48]

वस्तुतः आर्थिक समानता का लक्ष्य है पूरे दिन के प्रमाणिक परिश्रम के लिए मजदूरी की समानता- भले वह परिश्रम वकील का हो, डाक्टर का हो, शिक्षक का हो या भंगी का हो।[49] गांधी जी कहते हैं- "मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। मजदूरी करने वाले वर्गो को सैकड़ों वर्षो से सभ्य समाज से अलग रखा गया है और उन्हें निम्न दर्जा दिया गया है। उन्हें शूद्र कहा गया है और इस शब्द का यह अर्थ किया गया है कि वे दूसरे वर्गो से नीचे है। मै बुनकर, किसान और शिक्षक के लड़कों में कोई भेद नहीं होने दूँगा।[50] गांधी जी का मंतव्य था कि जब सभी व्यक्ति समान होते हैं तो सबको समान अवसर पाने का हक है; परन्तु साथ ही वे यह भी स्पष्ट करते है कि "हम सबकी क्षमता एक सी नहीं है। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि क्षमता एक सी हो ही नहीं सकती। .... इसलिए कुदरतन कुछ लोगों की कमाने की योग्यता अधिक होगी और दूसरों की थोड़ी। बुद्धिशाली लोगों की योग्यता अधिक होगी और वे अपनी बुद्धि का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करें, तो राज्य का ही काम करेंगे। ऐसे लोग संरक्षक बनकर रहते है, और किसी तरह नहीं। मैं बुद्धिशाली व्यक्ति को अधिक कमाने दूँगा, उसकी बुद्धि को कुंठित नहीं करूँगा। परन्तु उसकी अधिकांश कमाई राज्य की भलाई के लिए वैसे ही काम आनी चाहिए जैसे कि बाप के तमाम कमाऊ बेटों की आमदनी परिवार के कोष में जमा होती है। वे अपनी कमाई सरक्षक बनकर ही रखेंगे।[51]

स्पष्टत: गांधी जी की राज्य की अवधारणा के मूल में विद्यमान आर्थिक समानता महत्वपूर्ण है; यह अहिंसापूर्ण समाज की स्थाना का केन्द्रबिन्दु है। गांधी जी की अर्थव्यवस्था में विभिन्न इकाइयों को विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी बनाना एक मौलिक सिद्धान्त है। उनका आग्रह है कि रचनात्मक काम का यह अंग अहिंसापूर्ण स्वराज्य की मुख्य चाभी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है, पूंजी और मजदूरी के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठीभर पैसे वाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना; और और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग अधपेट खाते और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठीभर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच भारी अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राज-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती।[52]

स्वदेशी की अवधारणा के अन्तर्गत गांधी जी मशीनीकरण, उद्योगवाद और प्रबल केन्द्रीकरण का विरोध करते हैं। उन्होंने अर्थव्यवस्था में विकेन्द्रित आत्म-निर्भरता पर, उद्योगवाद के प्रतिबन्ध पर और मशीनों के संयमित प्रयोग पर बल दिया है। उद्योगवाद पूरी तरह इस बात पर निर्भर होता है कि आप में शोषण करने की क्षमता हो, विदेशी बाजार आपके लिए खुले हों और आपके साथ कोई स्पर्धा करने वाला न हों[53]

गांधी जी उत्पादन और वितरण में सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन के आवश्यक साधन उपलब्ध होने चाहिए तथा आवश्यकता की दृष्टि से ही उत्पादित वस्तु का वितरण किया जाना चाहिए तब ऐसी स्थिति में शोषण की संभावना नहीं होगी। वे लिखते हैं "जब उत्पादन और उपभोग स्थानीय होते हैं, तो उत्पादन को किसी भी प्रकार अधिकाधिक बढ़ाने का आकर्षण नहीं रहता। हमारी वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था से जो कठिनाइयाँ और समस्याएँ पैदा हुई है, उसमें वे सब भी समाप्त हो जाती है।[54] गांधी जी उद्योगवाद की बुराइयों के प्रति सचेत थे तथा इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा- "मेरा

स्पष्ट मत है और मै उस साफ-साफ कहता हूँ कि बड़े पैमाने पर होने वाला उत्पादन ही दुनिया की मौजूदा संकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय कि यन्त्र मानव-समाज की सारी आवश्यकतायें पूरी कर सकते हैं, तो भी उसका यह परिणाम तो होगा कि उत्पादन कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित हो जायेगा और इसलिए वितरण की योजना के लिए हमें द्राविड़ी प्राणायाम करना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि जिन क्षेत्रों में वस्तुओं की आवश्यकता है वहीं उनका उत्पादन हो और वहीं वितरण हो, तो वितरण नियंत्रण अपने आप हो जाता है। उसमें धोखा धड़ी के लिए कम गुंजाइश होती है और सट्टे के लिए तो बिल्कुल नहीं।[55]

उद्योगवाद के द्वारा शक्ति का केन्द्रीकरण स्वाभाविक रुप से हो जाता है और इस प्रकार एक तरफ औद्योगीकरण द्वारा शक्तिशाली वर्ग सम्पत्ति का विस्तार करता है तो दूसरी तरफ गरीब जनता शोषण का शिकार होती है। यन्त्रों के विकास से बेरोजगारी बढ़ती है और व्यक्ति अपनी सामान्य आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर सकता। अत: वे कहते हैं- "यन्त्रों की ऊपरी विजय से चमत्कृत होने से मैं इन्कार करता हूँ और मारक यंत्रों के मैं एकदम खिलाफ हूँ, उसमें मैं किसी तरह का समझौता स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन ऐसे सादे औजारों, साधनों या यंत्रों का जो व्यक्ति की मेहनत को बचाये और झोपड़ियों में रहने वाले लाखों-करोड़ों लोगों का बोझ कम करे, मैं जरूर स्वागत करूँगा।[56] उनका आग्रह था- "हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों में फैले हुए ग्रामवासी रुपी करोड़ों जीवित यंत्रों के विरुद्ध इन जड़ यंत्रों को प्रतिद्वंद्विता में नहीं लाना चाहिए। यंत्रों का सदुपयोग तो यह कहा जायेगा कि उससे मनुष्य के प्रयत्न को सहारा मिले और उसे वह आसान बना दे। यंत्रों के मौजूदा उपयोग का झुकाव तो इस ओर ही बढ़ता जा रहा है कि कुछ लोगों के हाथ में खूब सम्पत्ति पहुँचायी जाय और जिन करोड़ों स्त्री-पुरुषों के मुँह से रोटी छीन ली जाती है, उन बेचारों की जरा भी परवाह न की जाय।[57] मशीने मनुष्य की सहायक तो हों, लेकिन स्वामिनी नहीं। अत: गांधी जी भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए जहाँ अभी भी बहुत हाथ बेकार है, कुटीर एवं लघु उद्योगों को ही अच्छा

मानते थे। वे बड़े पैमाने पर औद्योगिकरण के विरूद्ध थे। उनका कहना था कि बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा और बाजार की समस्यायें खड़ी होंगी त्यो-त्यों गांवों का प्रत्क्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शोषण होगा। इसलिए हमें अपनी सारी शक्ति इसी प्रयत्न पर केन्द्रित करनी चाहिए कि गाव स्वयंपूर्ण बनें और वस्तुओं का निर्माण और उत्पादन अपने उपयोग के लिए करें।[58]

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गांधी जी पूर्णतया यंत्रीकरण व औद्योगीकरण के विरूद्ध थे। गांधी जी के अनुसार "मै मशीनों का नहीं, वरन् उसकी अन्धाधुन्ध चाह का विरोधी हूँ। आज श्रमहारी (लेबर सेविंग) मशीनों की प्रबल चाह है। मनुष्य यहाँ तक श्रम को बचाता जा रहा है कि हजारों लोग बेकार हो जाते हैं तथा खुली सड़कों पर भूखों मरने के लिए फेक दिये जाते हैं। मै मनुष्य के किसी अंग के लिए नहीं, वरन् समस्त मानव जाति के लिए समय क़ी बचत चाहता हूँ। मै चाहता हूँ कि सम्पत्ति का संग्रह कुछ लोगों के हाथों में नहीं, वरन् सबके हाथों में हो। आज यत्र चन्द लोगों को लाखों व्यक्तियों के उपर सवार रहने में मदद पहुंचा रहे हैं। इसके पीछे मूल प्रेरणा श्रम को बचाने की नहीं, वरन् लोभ की है। मैं इस स्थिति के विरूद्ध अपनी सारी शक्ति लगाकर संघर्ष कर रहा हूँ।"[59] गांधी जी के अनुसार 'मै अपने मानव यंत्रों को बेकार नहीं रख सकता। इतने अधिक परिमाण में हमारी मानव शक्ति बेकार पड़ी हुयी है कि अन्य शक्ति-संचालित यंत्रों के लिये हमारे पास कोई स्थान नहीं है।[60] वास्तव में यंत्रों के प्रयोग द्वारा श्रमिक विस्थापित होंगे, यह सीधा सातर्क है। किन्तु अर्थशास्त्री इससे सहमत नहीं है। इनका तर्क है कि यंत्रों के प्रयोग से उत्पादन व्यय कम होता है, जिससे उपभोग अधिक होता है, जिससे मांग ज्यादा हो जाती है, मांग में वृद्धि के कारण उत्पादन और बढ़या जाता है तथा उससे रोजगार बढ़ता है। किन्तु यह तर्क पद्धति सदोष है। निसं:देह एक अवस्था तक वृहत्स्तरीय उत्पादन की अर्थव्यस्था के फलस्वरूप कुछ मात्रा में रोजगार बढ़ सकता है, किन्तु उसके बाद नयी अर्थव्यवस्था शुरू होती है और फिर अधिक रोजगार की गुंजाइश नही रह जाती।[61]

मशीनीकरण के कट्टर विरोधी गांधी जी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में लघु-उद्योगों को ही श्रेयष्कर मानते थे। किन्तु, स्वचालित यंत्रों के पूर्णतया बहिष्कार के विपरीत उनका संघर्ष यंत्रों के दोषों के विरूद्ध प्रकट होता है। उनके अनुसार "मै यंत्र मात्र का उन्मूलन नहीं, नियंत्रण चाहता हूँ।"[62] यंत्रीकरण के संदर्भ में महात्मा गांधी का स्पष्ट मंतव्य था कि वे समस्त यंत्रों के विरूद्ध नही है। गांधी जी के अनुसार यह जानते हुए कि यह शरीर अत्यन्त उत्कृष्ट यंत्र है, मै कैसे समस्त यंत्रों के विरूद्ध हो सकता हूँ? यंत्रों के पागलपन के पीछे मेरी आपत्ति है यंत्रों के प्रति नहीं। इस संदर्भ में गाधी जी का कथन है "मै यंत्रों के विरूद्ध नही हूँ, परन्तु जब वे (यंत्र) हमारे ऊपर शासन करना चाहते हैं, तब मैं उसका पूरी तरह विरोध करता हूँ। मैं अपने विचार के द्वारा भारत का औद्योगीकरण करना चाहता हूँ।[63] उनका विचार था- "किसी उद्योग का मूल्य उसके निष्क्रिय पूँजीगत हिस्सेदारों को प्राप्त हाने वाले लाभ से नहीं आंका जा सकता, वरन् उसकी कसौटी यह है कि वह उन लोगों के शरीर, मन और आत्मा पर क्या प्रभाव डालता है, जो उसमें प्रत्यक्ष कार्य कर रहे हैं।[64] अतः गांधी जी के लोकतंत्रात्मक राज्य में यंत्रों की अपरिहार्यता उसी सीमा तक स्वीकार्य है, जब तक उससे प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हों। इस प्रकार आदर्शवाद और यथार्थवाद में समन्वय करते हुए उन्होंने मशीनों के उपयोग की सार्थकता को कुछ सीमा तक स्वीकार किया है।

इस प्रकार गांधी जी अन्धाधुन्ध उत्पादन के पक्ष में नहीं थे। इसके स्थान पर वे जनता के लिए, जनता द्वारा उत्पादन में विश्वास रखते थे। कुछ क्षेत्रों में आवश्यक बड़े उद्योगों की आवश्यकता से वे अच्छी तरह अवगत थे। अतः उनका कहना था कि ऐसे कारखानों का राष्ट्रीकरण होना चाहिए और इसमें श्रमिकों को प्रतिष्ठापूर्वक स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में, एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था- "मै इतना समाजवादी तो हूँ कि इन कारखानों पर राष्ट्रीयकरण या इन पर राज्य के नियंत्रण की बात स्वीकार कर लूँ।[65]

गांधी जी का लक्ष्य अपने आर्थिक विचारों को अर्थशास्त्र के वास्तविक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना नहीं था न ही उनकी रूचि ऐसे किसी शास्त्र निर्माण की

थी। गांधी जी एक नैतिक पुरुष थे और उनका एक मात्र लक्ष्य यह था कि मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार, सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के किसी भी पक्ष से उसका सम्बन्ध क्यों न हो, उसे नीति प्रबल या नैतिक मापदण्ड की मर्यादा में रहना चाहिए। इसीलिए उनके आर्थिक विचारों के पीछे भी यही दृष्टि थी। उन्होंने कहा है- "जो आर्थिक व्यवहार नैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध जाता है वह अनुचित है और जो अर्थशास्त्र ऐसे आर्थिक व्यवहारों को स्वीकार करता है वह झूठा अर्थशास्त्र है।[66]

स्पष्टत: गांधी जी अपने आर्थिक विचारों को नैतिक आधारशिला प्रदान करते हैं। तथा मनुष्य के आर्थिक व्यवहार को नैतिकता की मर्यादा में रखना चाहते थे। इसीलिए उनके आर्थिक विचारों को समझने के लिये नैतिकता सम्बन्धी उनकी दृष्टि को समझना आवश्यक होगा। "गांधी जी के दो मूल सिद्धान्त थे- सत्य और अहिंसा। सत्य है साध्य और अहिंसा है साधन। 'सत्य ही ईश्वर है' ऐसा गांधी जी कहते थे। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में इस सत्य का दर्शन करना मानव जीवन का लक्ष्य है। इसलिए मनुष्य को अहिंसा अपनानी चाहिए, यह गांधी जी का मानना था।"[67] गांधी जी आर्थिक क्षेत्र में भी सत्य एवं अहिंसा को अपनाने पर जोर देते थे। वे ऐसे आर्थिक व्यवहार एवं आर्थिक संगठन के समर्थक थे जो मनुष्य को मनुष्य द्वारा किये जाने वाले अन्याय, अत्याचार और शोषण से सुरक्षित रखकर उसकी आत्मिक उन्नति में सहायक हो। गांधी जी मानव जीवन का लक्ष्य आत्मिक उन्नति मानते थे और जीवन का हर व्यापार इसमें सहायक हो ऐसा वे चाहते थे। सम्पूर्ण आर्थिक व्यवहार और आर्थिक संगठन के पीछे भी उनकी यही दृष्टि थी।[68]

गांधी जी के आर्थिक विचार को हम तब तक नहीं समझ सकते, जब तक कि हम मनुष्य की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में गांधी-दृष्टि को न समझ लें। आज का युग आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि को सभ्यता का विकास मानता है। आधुनिक अर्थशास्त्र इस तथ्य को मानकर चलता है। गांधी जी का विचार दूसरा था वे मानव जीवन का लक्ष्य उसकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति मानते थे। भौतिक आवश्यकताओं में अपने आप को उलझाने के पक्ष में गांधी जी नही थे। इसीलिए उनका आदर्श था सादा, स्वस्थ और संयत जीवन।

गांधी जी की दूसरी दृष्टि थी मनुष्य की एक व्यक्ति के नाते स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहे। उनके अनुसार– "व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता परम आवश्यक है और यह आदर्श समाज का प्रमुख लक्षण भी है। परन्तु व्यक्ति को यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी वर्तमान स्थिति में इस कारण पहुँचा है कि उसने सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के साथ अपने व्यक्तिवाद का अनुकूलन करना सीखा है। समाज को चाहिए कि व्यक्ति के विकास के लिए उत्तम वातावरण का निर्माण करें और व्यक्ति को चाहिए कि अपनी योग्यता का प्रयोग वह सामाजिक कल्याण के लिये करें। किन्तु इसके लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता परम आवश्यक है।[69] गांधी जी इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा को किसी प्रकार की ऑच न पहुँचे। गांधी जी इस बारे में अधिक सावधान थे कि जहॉ केन्द्रीयकरण है वही स्वतंत्रता को खतरा है। इसीलिए गांधी जी की अर्थव्यवस्था में विकेन्द्रीकरण और स्वालम्बन को महत्व दिया गया था। इसी कारण गांधी जी राज्य के हाथ में यथासंभव कम से कम कार्य देना चाहते थे। गांधी जी का यह विश्वास था कि केन्द्रीयकरण से व्यक्तिगत स्वतंत्रता संकुचित हो जाती है और देश में असमानता की वृद्धि होती है।[70]

आज समाज में सर्वत्र अनेक प्रकार के द्वन्द्व दिखाई पड़ते हैं जैसे, व्यक्ति का व्यक्ति के साथ द्वन्द्व, व्यक्ति का समाज से द्वन्द्व, एक आर्थिक पद्धति का दूसरी आर्थिक पद्धति से द्वन्द्व, पूंजी तथा श्रम का द्वन्द्व, मनुष्य तथा यन्त्र का द्वन्द्व, उत्पादन तथा वितरण में द्वन्द्व, मानवीय मूल्यों तथा भौतिक मूल्यों में द्वन्द्व, केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उद्योगों में द्वन्द्व आदि। इनके निदान के लिए समय-समय पर अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, राजशास्त्रियों ने प्रयास किया तथा समाधान भी प्रस्तुत किया है, परन्तु अभी तक सही समाधान न प्राप्त होने के कारण सम्पूर्ण विश्व इस समस्या से ग्रस्त है। सभी प्रकार के द्वन्द्वों का समाधान आज की प्रचलित कोई भी आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था नहीं दे पा रही है। गाधी जी ने अपनी नवीन पारिवारिक समाज की कल्पना द्वारा सभी द्वन्द्वों का यथासम्भव समाधान प्रस्तुत किया है। पारिवारिक

गुणों,-प्रेम, करूणा, अहिंसा, त्याग के द्वारा द्वन्द्व आर्थिक क्रियाओं में रह ही नहीं जाते। गांधी जी के साध्य और साधन एक ही पूर्ण कसौटी-मानवीय मूल्यों पर आधारित है। गांधी जी ने परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का खण्डन किया है जिन्होंने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान या धन की विवेचना करने वाला शास्त्र ही कहकर उसके क्षेत्र को परिसीमित ही नहीं कर दिया था वरन् अर्थशास्त्र को धन की पूजा करना सिखाकर उसे शोषकों, हिंसकों, शक्तिशालियों के हाथ की कठपुतली बना दिया था। गांधी जी ऐसे आर्थिक चिंतन को महत्व नहीं देते हैं जिनमें धन सचय या परिग्रह का लोभ है क्योंकि मनुष्य यदि अपनी जरूरत से अधिक धन संचय करता है तो अवश्य वह किसी का शोषण करता है, अर्थात् वह आर्थिक हिंसा करता है। आर्थिक क्षेत्र में सबकी उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करने के लिये अहिंसक रूप से धन का समान वितरण सभी वर्गों मे होना अनिवार्य है। अन्यथा यदि धन या धन के साधन, स्रोत, उत्पादन समाज के किसी एक ही वर्ग के हाथ में निहित रह जायेगा तो समाज के अन्य वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे हो पायेगी। धन के समान वितरण का सिद्धान्त गांधी जी मात्र भारत के संदर्भ में ही नहीं प्रतिपादित किये थे अपितु उनके आर्थिक सर्वोदय का सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व के लिये अभीष्ट है।

स्वदेशी की अवधारणा को यद्यपि व्यापक परिप्रेक्ष्य में समग्र व व्यवस्थित रुप में गांधी जी ने प्रतिपादित किया किन्तु भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक विचारकों, चिंतकों व क्रान्तिकारियों ने इस सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त किये है। अतएव उनके विचारों का भी अध्ययन व विश्लेषण स्वदेशी की अवधारणा को और भी अधिक स्पष्ट करने में सहायक होगा। स्वदेशी का दर्शन समझने के लिए महात्मा गांधी के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, गोपाल कृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द पाल के साथ वर्तमान में एम. जी. बोकरे, दन्तोपंत ठेगड़ी, गोविन्दाचार्य और एस. गुरूमूर्ति के सन्दर्भ सामग्री से मदद ली जा सकती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ हम पहली बार स्वदेशी की भारतीय चेतना के आधुनिक चरण में प्रवेश करते है। वैदिक आदर्शो से प्रेरित दयानन्द के लिए

स्वदेशी सर्वभूत कल्याणवाद के मार्ग में एक निश्चित व आवश्यक सोपान है।[71] पश्चिम के अन्धानुकरण को मानसिक दासता घोषित करने वाले दयानन्द स्वदेशी मूल्य, स्वदेशी शिक्षा एवं स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने का आह्वान करते है।[72] दयानन्द की धारणा का आधार भौतिकवाद व जड़वाद न होकर वैदिक मनोविज्ञान था जिसमें भावना व बुद्धि के समन्वय का संदेश है। वे 'स्व' व 'देश' को जानने में मुक्ति तलाशते है।[73] स्वदेशी की अपनी उदार व निर्मल धारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि उनका अभीष्ट स्वदेशी मूल्यों व मान्यताओं के प्रति अनावश्यक आग्रह व्यक्त करना नहीं अपितु सत्य की प्रतिष्ठा व असत्य का परित्याग करवाना है। वे स्वदेशी को मानवधर्म से सम्बद्ध करते हुए कहते हैं कि स्वदेशी व विदेशी का भेदभाव रखते हुए अधर्मयुक्त प्रवृत्तियों का समर्थन करना अथवा विदेशी के प्रति पूर्वाग्रह ग्रसित होकर धर्मयुक्त बातों का परित्याग करना मांनवधर्म से असंगत है।[74] आर्थिक पुन:निर्माण तथा राजनैतिक व सामाजिक एकता के लिए स्वदेशी को अनिवार्य मानने वाले दयानन्द का कहना था कि देश की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति देश के द्वारा ही होनी चाहिए।[75]

स्वदेश प्रेमयज्ञ हेतु ब्रह्मसमाधि का निश्चय त्यागने वाले स्वामी विवेकानन्द की स्वदेशी विषयक अवधारणा में स्वधर्म का पालन करते हुए राष्ट्रोत्थान एवं राष्ट्रीय चरित्र के दोषों का निदान तथा अक्लान्त लोक हितैषणा, देश के जनसारधारण की सेवा की भावना निहित है।[76] विवेकानन्द का मानना था कि हमें अपने 'स्व' की पहचान खोये बिना अपने संस्कारों पर जमी धूल झाड़ देशोत्थान के कार्य में जुट जाना चाहिए। परानुकरण को मनुष्य के अध:पतन का लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता।[77] देश एवं देशवासियों को हृदय से प्यार करने में वह देश की जागृति देखते थे। उनका मानना था हमें अपने देश की प्रकृति के अनुरुप प्रगति करनी होगी, स्वयं को तोड़-मरोड़ दूसरे देशों के सांचे में गढ़ना असंभव है।[78] वे मानते थे कि स्वजाति मनुष्यरूपी देवताओं की पूजा करनी होगी चाहे वे अभिशाप व निन्दा की बौछार करें, पैरों से ठुकरा दें।[79]

स्वामी रामतीर्थ की दृष्टि में स्वदेशवासियों के प्रति हार्दिक प्रेम ही सच्चा स्वदेशी है। स्वदेशी को देशवासियों के साथ तादात्म्य की संक्रिय भावना बताते हुए उन्होंने कहा कि देशहित के लिए प्रयत्न करना विश्व की शक्तियों की आराधना है। स्वयं को देश के साथ एकाकर मानते हुए उन्होंने आग्रह किया कि देशभक्तों को ऐसा ही करना चाहिए। स्वदेशभक्ति के इस अत्युच्च अनुभव में उनकी स्वदेशी की धारणा निहित है। वे वैयक्तिक 'स्व' को 'देश' के 'स्व' में विलीन करने की प्रेरणा देते हैं।[80] वे कहते थे कि अपने आपको देश व देशबन्धुओं के प्रेम से अभेद करो। अपने प्राण स्वदेश हित में अर्पण करो।[81] उनका कहना था कि हमें देश की भलाई का इस प्रकार चिंतन करना है कि हम और हमारे देशवासी अभिन्न हो जाए तथा देश कल्याण में हमें अपना कल्याण और आनन्द भान होने लगे यही स्वदेशी है।[82]

गोपाल कृष्ण गोखले के लिए स्वदेशी मात्र आर्थिक अस्त्र न होकर आत्मनिर्भरता व आत्मसम्मान की चेतना की सकारात्मक अभिव्यक्ति था। कांग्रेस के बनारस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि मातृभूमि के प्रति समर्पण स्वदेशी की भावना में पूर्णतः अन्तर्व्याप्त है। गोखले के लिए स्वदेशी भावुकतापूर्ण आग्रह नहीं होकर व्यावहारिक उपाय का रूप दिये जाने वाली धारणा थी। वे कहते थे कि स्वदेशी को तभी व्यवहार में लाया जा सकता है जबकि देश में पूंजी, उद्यम व दक्षता के क्षेत्रों में विद्यमान कमियों का निराकरण कर लिया जाये।[83] गोखले स्वदेशी को मानव जाति को प्रेरित करने वाले श्रेष्ठतम आदर्शो में महत्वपूर्ण मानते थे।[84] उनका मंतव्य था कि स्वदेशी ऐसा औद्योगिक आन्दोलन है जो राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करता है। नैतिक स्वदेशी मातृभूमि के प्रति उच्चकोटि का गम्भीर, भावप्रधान और व्यापक प्रेम है। यह मातृभूमि के प्रति असीम भक्ति है। देश के बारे में सोचने की प्रेरणा है। यह त्याग व परस्पर सहयोग की भावना है। स्वदेशी का भौतिक पक्ष आत्मत्याग के नैतिक आदर्श का आर्थिक रूपान्तरण है। स्वदेशी आर्थिक स्वरुप में देश को आत्मनिर्भर बनाता है, आयात पर आश्रितता घटाता है, आर्थिक साधनों के निर्गम पर रोक लगता है, आत्मसम्मान जागृत्त करता है और देश का

औद्योगिक विकास बढ़ाता है।[85] गोखले स्वदेशी की नकारात्मक अवधारणा बहिष्कार के पक्ष में नहीं थे। वे स्वयं को हानि पहुँचाकर दूसरों को हानि पहुॅचाने के भाव के विरोधी थे। स्वदेशी के आर्थिक स्वरूप की व्यावहारिकता के प्रति अपनी शंका के बावजूद गोखले स्वदेशी में समाहित अत्युच्च कोटि की देशभक्ति के कारण इसे मनुष्य को ऊपर उठाने वाली अवधारणा मानते थे।[86]

बाल गंगाधर तिलक के राजनैतिक कार्यक्रम की मूल भावना स्वदेशी ही थी। तिलक की दार्शनिकता ने उनकी स्वदेशी की धारणा को परिपक्व किया। गीतामर्मज्ञ तिलक के लिए स्वत्व एक नैतिक आवश्यकता व प्राकृतिक अधिकार था। स्वराज्य व स्वदेशी को अभिन्न करार देते हुए उन्होंने बताया कि स्वदेशी का अंतिम स्वरूप स्वराज्य ही है। उनका कहना था स्वराज्य साध्य है स्वदैशी साधन तिलक की अवधारणा में स्वदेशी मनुष्य का कर्त्तव्य था उनका मानना था कि स्वदेशी भावना माँ के दूध के साथ पान करने वाली वस्तु है। यह भाव जन्म से ही हृदय में स्थापित होना चाहिए। हमारा कर्त्तव्य है हम प्रत्येक चीज में स्वदेशी हो, कि वाह्य रूप से हमें स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए तथा आन्तरिक रुप से स्वदेशी विचारों से प्रेरित होना चाहिए।[87] वह देशीय सन्दर्भो में 'स्व' की प्राप्ति आवश्यक मानते थे। उनके लिए स्वदेशी बहिष्कार का क्रियात्मक पक्ष था।[88] मनसा वाचा कर्मणा स्वदेशी को आत्मसात करने वाले तिलक के लिए स्वदेशी आर्थिक धारणा से अधिक था। स्वदेंशी द्वारा वे स्वदेश का वैचारिक पुनर्निर्माण करना चाहते थे। तिलक का 'स्व' अहं नहीं था। वे अहंकार व स्वार्थ त्यागने की चर्चा करते थे।

तिलक द्वारा अपने धर्म, संस्कृति, भाषा व सभ्यता पर जोर देना स्वदेशी का ही रूप था। वे मानते थे कि स्वदेशी राष्ट्रीय स्वाभिमान, आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करता है, यह देशभक्ति का प्रतीक व पुनरूत्थान का साधन है।[89] तिलक कहते थे कि आर्यो की भूमि को मातृभूमि की मान्यता देना ही स्वदेशी है।[90] उनका मानना था कि देश की सजीवता के लिए स्वकीय को प्रोत्साहन व परकीय का बहिष्कार आवश्यक है।[91] डा. राजपुरोहित के शब्दों में तिलक की स्वदेशी की अवधारणा का दर्शन गीता रहस्य में प्रकट तत्त्वशास्त्रीय धारणाओं द्वारा समझा जा

सकता है। लोकमान्य ने 'स्वदेश को ईश्वर का एक रूप' मानकर उसके प्रति सर्वस्व त्याग पर बल दिया।[92] तिलक के स्वदेशी का रुप अन्त: प्रज्ञात्मक है। 'वे देश को चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार कर क्षुद्र 'स्व' की परिधि से बाहर निकल उस चेतन सत्ता की सेवा को श्रेयस्कर मानते हैं। वे कहते हैं कि ध्येय व प्रेम की संसिद्धि देशकल्याण में स्वयं को अर्पित करने पर निर्भर है।[93] वे देश की सामान्य इच्छा के राजनैतिक स्वीकरण की चेतना को पोषित करने पर जोर देते हैं।[94] वस्तुत: तिलक की स्वदेशी की संकल्पना में राजनैतिक दृष्टि से स्वदेशी शासन, नैतिक दृष्टि से स्वधर्म पालन व आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बन की भावना सन्निहित है।

लाला लाजपत राय का मानना था कि स्वदेशी व देशभक्ति पर्यायवाची है। वे मानते थे कि व्यापक अर्थो में स्वदेशी समस्त भारतीयों के अधिकतम कल्याण के लिए स्वदेशी पूंजी, साधन, शक्ति, श्रम व योग्यता के सगठन की क्षमता है।[95] लाला जी ने स्वदेशी की अवधारणा को आर्थिक जामा पहनाया। अपनी पुस्तक 'इंग्लैण्ड डेब्ट टू इण्डिया' में वह अंग्रेजों द्वारा किये गये शोषण का विश्लेषण कर स्वदेशी प्रेरणाओं को अपनाने का निष्कर्ष प्रतिपादित करते है।[96] स्वदेश की महानता पर अगाध श्रद्धा रखने वाले लाला जी के लिए स्वदेशी का आर्थिक अस्त्र स्वराज्य प्राप्ति का साधन था। उनका मानना था कि स्वदेशी द्वारा देश को राष्ट्रवाद से अनुप्रेरित किया जा सकता है। उनकी स्वदेशी की धारणा में अन्य देशों के प्रति घृणा या शेष मानवता के प्रति उदासीनता नहीं होकर मानवता के प्रति सकारात्कता व शालीनता की उच्चतम संकल्पना है। वे मत्सीनी के समान दृढ़ व एकनिष्ठ स्वदेश प्रेम को मानवता के प्रति प्रेम का सहगामी मानते थे।[97] लाजपत राय के अनुसार स्वदेशी का अर्थ यह नहीं कि हमें पश्चिम से कुछ भी लेना नहीं है। हम अपने देश की प्रगति के लिए पश्चिम से जो कुछ सीख सकते हों, उसे सीखने में कोई संकोच या लज्जा अनुभव नहीं करना चाहिए। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत के लोगों को पश्चिम से जीवन की कला सीखनी है, जीवन के आदर्श नहीं।

विपिनचन्द्र पाल की स्वदेशी की धारणा में आर्थिक आत्मनिर्भरता के स्वर की मुखरता थी पर वे इसे मूलत: आध्यात्मिक अवधारणा मानते थे। पाल के लिए

स्वदेशी देश के साथ अपनेपन की अनुभूति का परिणाम था। उनकी मान्यता थी कि इसे समझने के लिए स्वदेश के उच्च आदर्शो, स्वधर्म की उच्चतम शिक्षाओं व देश के सामाजिक-आर्थिक-औद्योगिक व राजनैतिक जीवन की सर्वोच्च संभावनाओं के सन्दर्भ में विचार किया जाना आवश्यक है। उनका मानना था, स्वदेशी अहं या आत्मश्रेष्ठता की भ्रांति से उत्पन्न बाधाओं को समाप्त करता है। 'लव, लॉजिक एण्ड पॉलिटिक्स' लेख में पाल ने लिखा कि विदेशी चीजों के प्रति अनुराग हमारे वास्तविक राष्ट्रीय स्व के प्रति हमारी चेतना का नाश कर देगा।[98] 'वन्दे मातरम्' लेख में वे व्यक्तियों को देश का अवयवी अंग बताते हुए उनके सामूहिक स्व को देश के उद्देश्यों हेतु जुटने की चर्चा करते है।[99] पाल की अवधारणा का स्वदेशी स्वचालित, अवचेतनात्मक है जो अन्य सामाजिक धारणाओं की भांति सामाजिक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है न कि व्यक्ति द्वारा निर्धारित व विनिश्चित विकल्प।[100] उनका स्वदेशी व्यक्तिवादी न होकर उच्चतम हिन्दूदर्शन के अनुरूप सार्वभौमिक मानवता से व्याप्त था। पाल के लिए स्वदेशी सहयोग, समष्टिवाद, विवेक व आध्यात्मिकता की भारतीय दृष्टि से अनुप्रेरित था, तथा विकास के सिद्धान्त पर आधारित विचार था।[101]

अरविन्द की स्वदेशी की अवधारणा स्वार्थपरता या दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा न होकर श्रद्धा व निस्वार्थता से उच्चतर शाश्वत स्व को समूचे देशवासियों में खोजने की है। वे समस्त देशवासियों की भावनाओं, आकांक्षाओं, प्रसन्नता व गतिविधियों के साथ तादात्म्य स्थापनार्थ आत्मप्रेम को लांघ भातृत्व चेतना के विस्तार को स्वदेशी मानते थे। उनके लिए स्वदेशी विध्वंस की नकारात्मक धारा न होकर आधुनिक भारत के निर्माण की सकारात्मक, सृजनशील प्रेरणा थी। विद्रोह व नैराश्य की पुकार नहीं वरन् राष्ट्रीय विश्वास व आशा का सन्देश थी।[102] न्यूयॉट लेखमाला में वह स्वदेशी को 'आत्मत्याग द्वारा आत्मविकास' का सिद्धान्त बताते है तो 'शैल इण्डिया बी फ्री' लेख में वे' स्वदेशी साधनों की क्रियाशीलता हेतु स्वदेशी शासन' के द्वारा स्वदेशी को राजनैतिक रूप भी देते है।[103] उनका स्वदेशी स्व नियंत्रित आन्तरिक स्वतंत्रता है, निर्बाध स्व विकास है।[104]

सुभाषचन्द्र बोस के लिए स्वदेशी राजनैतिक सांस्कृतिक अवधारणा थी। स्वदेशी को युग उपयोगी साधना मानते हुए वे कहते है कि देशात्मबोध को ग्रहण करना होगा और जो कुछ इस आदर्श के अनुकूल है वह श्रेयस्कर है, ग्रहण योग्य है और जो स्वदेशी के आदर्श के प्रतिकूल है वह अनिष्टकर त्याज्य है।[105] स्वदेश हेतु आत्मोत्सर्ग के आदर्श से प्रेरित बोस का मानना था कि भारत में देशोन्नति हेतु आवश्यक सभी उपादान मौजूद हैं, चाहे वे सांसारिक हों या आध्यात्मिक, नैतिक। भारत का कर्त्तव्य व लक्ष्य सर्वप्रथम स्व को बचाकर जगत को कुछ देना है।[106] वे मानते थे स्वदेशी राष्ट्रीय इच्छाशक्ति को जागृत कर स्वाधीनता प्राप्ति का साधन है इसके लिए वह देशसेवा का व्रत लेने का आह्वान करते हैं तथा परमुखापेक्षी भाव से मुक्त हो स्वावलम्बी व आत्मनिर्भर बनने की बात करते हैं। पाश्चात्य प्रभाव से मुक्ति हेतु वह स्वदेशी को मृतसंजीवनी सुधा मानते थे।[107]

गोविन्दाचार्य स्वदेशी को राष्ट्र निर्माण व विकास का महत्वपूर्ण साधन मानते है। स्वदेशी के गारे-मिट्टी से वे भारत का नव निर्माण चाहते हैं। उनके दृष्टिकोण में यह निहित है कि सुशासन, अन्यायरहित, समतामूलक लोतान्त्रिक समाज आदि भारतीय सभ्यता की विशेषता रही हैं। उन्हें फिर से हम स्वदेशी के माध्यम से अर्जित कर सकते है। यदि ये बातें भारतीय समाज में लौट आयें तो वह अपनी शर्तो पर पश्चिम को आइना दिखा सकता है।[108] वे स्वदेशी को मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में भी देखते है। उनकी चिंतन प्रक्रिया में एक और बात है। वे मानते हैं कि स्वदेशी विचारधारा का निरंतर विकास होना चाहिए। उसे सतत् परिष्कार की जरूरत है। स्वदेशी की प्रतिमा कहीं गढ़ कर पहले से ही रख नहीं दी गयी है। उसे तराशा जाना है। गोविन्दाचार्य स्वदेशी को सभ्यतामूलक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास करते है। सभ्यता के विकल्प के तौर पर प्रस्तुत करते हुए उनका कहना है कि हमें पश्चिम के मुकाबले अपनी जमीन पर खड़े होना है। लोगों में आत्मविश्वास पैदा करना है, चुनौतियों से भागना नहीं है।[109] साथ ही साथ गोविन्दाचार्य कहते हैं कि "हमारे लिए स्वदेशी का एक और मतलब है। यह सभ्यता के धरातल पर पश्चिम का विकल्प है, यह केवल आर्थिक विकल्प नहीं है।"[110] गोविन्दाचार्य इस बात

को साफ कर देते है कि भारत एक वैचारिक संघर्ष के दौर में है। उनका सीधा संकेत डब्लूटीओ और विश्व बैंक की ओर है। उनको इस बात का अफसोस है कि विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं का उपयोग राजनीतिक दासता के लिए किया जा रहा है। इन संस्थाओं के पैसे, विदेशी तकनीक और विज्ञान को भारत जैसे देशों को सहज ही उपलब्ध कराया जाना चाहिए। इस तरह की स्वदेशी विचारधारा से एक बुनियादी सवाल खड़ा होता है कि डब्ल्यूटीओ के राजनीतिक और आर्थिक सपने को अपनी धरती पर हम कैसे पछाड़े। उसके लिए तात्कालिक और दीर्घकालिक उपाय-योजना क्या हो? उसमें से स्वदेशी की समानांतर धारा वेगवान होकर कैसे प्रवाहित हो।

एस. गुरूमूर्ति स्वदेशी को पूरे जीवन दर्शन के रूप में देखते है। उनके अनुसार यह भारतीय आदर्शो और सिद्धान्तों की भित्ति पर खड़ा होगा। उसमें पश्चिम विचारधारा का पूरक रोल हो सकता है। एस. गुरूमूर्ति मानते है कि अपनी जरूरतों के मुताबिक स्वदेशी आधुनिकीकरण की एक प्रक्रिया है। उससे आर्थिक भूमंडलीकरण की चुनौतियों का दीर्घकालिक जबाब दिया जा सकता है। गुरूमूर्ति का मानना है कि स्वदेशी में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्ष है। जहां तक सकारात्मक पक्ष का सवाल है वह आर्थिक राजनीतिक सिद्धान्तों में सभ्यतामूलक मूल्यों की वृद्धि करता हैं, लेकिन नकार के स्तर पर वह विदेशी विचारधारा, आर्थिक सिद्धान्त और संस्थाओं को नामंजूर करता है।[111]

गुरूमूर्ति मानते हैं कि महात्मा गांधी के स्वदेशी विचार को बदलते हुए हालात में पुर्नपरिभाषित करने की जरूरत है। हिन्द स्वराज्य जब लिखा गया था तब से परिस्थितियां बहुत बदल गयी हैं। उस बदलाव के मद्दे नजर कुछ बातों की व्याख्या जरूरी है और कुछ नये संदर्भ जोड़ने भी पड़ेगें। उनका कहना है कि हिन्द स्वराज्य एक मील का पत्थर है। स्वदेशी पर बहस उसी से शुरू की जानी चाहिए स्वदेशी की यात्रा के लिए जो कदम उठाया जाना चाहिए वह हिन्द स्वराज्य से ही उठना चाहिए।[112]

उपरोक्त विचारकों व चिंतकों के मतों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वदेशी अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। इसके राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक इत्यादि विभिन्न आयाम है। स्वराज्य की कल्पना में स्वदेशी का भाव है। क्योंकि स्वराज्य का अर्थ केवल अपना शासनतन्त्र ही नहीं अपना अर्थतन्त्र, अपना शिक्षा तन्त्र और जीवनतन्त्र भी है। किन्तु स्वदेशी की अवधारणा मुख्यत: आर्थिक पद्धति के रूप में गौणत: राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, पद्धति के रूप में प्रसिद्ध व प्रचलित है।

वर्तमान समय के आर्थिक उदारीकरण व वैश्वीकरण के. व्यापक प्रचार-प्रसार के चलते स्वदेशी की अवधारणा आर्थिक दृष्टि से और अधिक विवाद और चिंतन का विषय बन गया है। स्वदेशी की भावना के साथ अक्सर यह विवाद उपस्थित किया जाता है कि स्वदेशी के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता एवम् विश्वबन्धुत्व की भावना कुण्ठित होती है तथा यह अत्यधिक संकीर्ण एवं प्रतिगामी विचारधारा है। स्वदेशी को अपनाना असभ्यता के युग में लौटने के बराबर है। साथ ही वर्तमान वैश्विकरण के युग में हमारी अर्थनीति में इस प्रकार के स्वदेशी का कोई स्थान नहीं।

वस्तुत: जिस देश की सभ्यता एवं संस्कृति ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' का आदर्श सिखाया, उसी ने स्वदेशी की सीख भी दी है, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक है। अन्तर्राष्ट्रीयता शून्य में प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। स्वदेशी को विश्वबन्धुत्व में बाधक मानने वाले इस तथ्य को भूल जाते हैं कि 'जब मैं अपने कुटुम्ब की सेवा करने में भी समर्थ नहीं हूँ, तब सम्पूर्ण भारत की सेवा करने पर कमर कसने का विचार धृष्टता है।[113] हमारा विश्वबन्धुत्व भाव तभी सार्थक होगा जब उसमें हमारा अस्तित्व हो। यदि हम अपने परिवार का भरण-पोषण करने में अक्षम है तो दुनिया का भरण-पोषण कैसे करेंगे? यदि विश्वबन्धुत्व की भावना को साकार करना है तो सर्वप्रथम हमें अपने अस्तित्व की सुरक्षा करनी होगी। स्वदेश प्रेम की भावना को छोड़कर हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता एक दिवास्वप्न है। हमारी निष्ठायें निरपेक्ष नहीं हो सकती है। अपने निकट परिवेश की वेदना, अभाव को देखे बिना विश्व-बन्धुत्व की बात करना गलत है। इससे तो दिया तले अंधेरा की कहावत ही

चरितार्थ होगी। हमारा अधिक दायित्व पहले उनके प्रति है जो हमारे पास-पड़ोस में है। वस्तुत: स्वदेशी में संकीर्णता की भावना नहीं है लेकिन पड़ोसी के प्रति प्रेम का भाव तो है ही। स्वदेशी भावना में किसी भी विदेशी के प्रति कोई दुर्भाव नहीं है। यह तो अपने शुद्धतम रुप में परमार्थ की पराकाष्ठा है। इसके अन्तर्गत मानवतावाद ही सर्वोपरि है। स्वदेशी एक व्रत भी है और एक आन्दोलन भी। लेकिन स्वदेशी का आधार है प्रेम। जहाँ घृणा है, वह स्वदेशी नहीं है। नम्रता और प्रेम के बिना इसकी कल्पना ही निरर्थक है।[114]

स्वदेशी के प्रति दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि अर्थनीति में स्वदेशी का कोई स्थान नहीं है। इस संदर्भ में यह सच है कि आज हमें वैश्विक अर्थनीति की उपेक्षा नहीं करनी है किन्तु अपना राष्ट्रीय हित तो सर्वोपरि है। आज इसी राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भारत परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर सहमत नहीं हो रहा है। किन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि हमारा स्वदेश प्रेम या स्वदेशी संकीर्ण, आक्रमक एवं विश्वबन्धुत्व में बाधक न हो। वस्तुत: जब तक हम अपनी अर्थनीति को स्वदेशी अभिमुख नहीं करेंगे, हमारा परावलम्बन बढ़ता जायेगा। तथा बिना स्वावलम्बन की सिद्धि के हम शोषण नहीं बच सकते।

स्वदेशी अर्थशास्त्र कृत्रिम आवश्यकताओं के बदले वास्तविक आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन पर जोर देता है। फलत: स्वावलम्बन की अर्थनीति के कारण एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण नहीं कर पायेंगे और इस प्रकार सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास होगा। अत: स्वदेशी को संकुचित एवं आक्रामक राष्ट्रवाद का पर्याय नहीं मानकर उसे स्वस्थ विश्व-सम्बन्ध का प्रतीक मानना चाहिए। आज की दुनियाँ में बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के शोषण में लगे हैं। अत: उन दोनों के बीच अविश्वास एवम् विग्रह का वातावरण है। स्वदेशी को राष्ट्र या विश्व के विरूद्ध विध्वंसकारी मानना उतना ही गलत है जितना पारिवारिक प्रेम को समाज के प्रेम का बाधक मानना। परिवार की सेवा के द्वारा पूरे देश या पूरी मानवता की भी सेवा हो सकती है। इस सन्दर्भ में गीता का स्वधर्म एवं ब्रैडले का 'मेरा स्थान एवं उससे सम्बन्धित कर्तव्य' की अवधारणा अत्यधिक प्रासंगिक है।

स्वदेशी का तात्पर्य यह नहीं है कि हम सम्पूर्ण दुनियाँ से कट जायेंगे वरन् अपने न्यूनतम साधनों का अधिकतम उपयोग करके देश भावना की नींव पर खड़ा होने का इरादा मजबूत करेंगे। वस्तुतः वर्तमान समय में स्वदेशी को व्यापक अर्थो में ग्रहण कर इसको बदलते परिवेश के अनुरूप और अधिक विकसित, परिमार्जित करने की आवश्यकता है न कि इसके त्याग व उपेक्षा की। यह सच है कि किसी भी चीज की अति करने से वह बुरी हो सकती है किन्तु इसका यह अर्थ यह नहीं कि अच्छाई ही बुरी चीज है। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि स्वदेशी स्वदेश प्रेम की कुंजी और विश्व-प्रेम का राजमार्ग है।[115] स्वदेशी की अवधारणा में एक साथ राजनीतिक सम्प्रभुता की सुरक्षा, आर्थिक स्वायत्तता का अहसास और सांस्कृतिक अस्मिता का मान तीनो तत्व समाहित है।

सन्दर्भ स्रोत

1. सिंह रामजी, 'गांधी विचार' (दर्शन, धर्म, राजनीति व अर्थनीति), मानक पब्लिकेशन, दिल्ली, 1995, पृ. 124 ।
2. वही, पृ. 120 ।
3. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, 1979 पृ. 267 ।
4. गीता, 3, 35 ।
5. फ्रॉम यरवदा मन्दिर, नवजीवन पब्लिसिंग, हाउस, अहदाबाद, 1961 पृ. 63 ।
6. नारायण श्रीमन्, (सं.), 'दि सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', वाल्यूम 4, पृ. 257 ।
7. श्री 'सुमन' रामनाथ, (सं.), 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन भवानी कुटीर इलाहाबाद 1967 पृ. 67 ।
8. प्रसाद महादेव, 'महात्मा गांधी का समाज दर्शन' (अनुवाद, विष्णुकान्त शास्त्री) हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ 1989 पृ. 81 ।
9. एन्ड्रूज, सी.एफ. 'महात्मा गांधीज आइडियाज' पृ. 140 (उद्धत, प्रसाद महादेव, महात्मा गांधी का समाज दर्शन, पृ. 81) ।

10. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, सम्पादित, जी.ए. नटेसन, मद्रास 1917, पृ. 336 ।
11. फ्रॉम यरवदा मन्दिर, अहमदाबाद, 'नवजीवन पब्लिशिंग हाउस', पृ. 61 ।
12. गांधी जी, 'धर्मनीति', पृ. 173 ।
13. गांधी महात्मा, 'मेरे सपनों का भारत', (सं.), सिद्धराज ढड्ढा सर्वसेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी 1989, पृ. 128 ।
14. सेठी जयदेव, 'गांधी की प्रांसगिकता', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली 1979, पृ. 12।
15. प्रभु, आर.के. एवम् राव, यू.आर., 'दि माइन्ड ऑफ महात्मागांधी', पृ. 410–411 ।
16. वही, पृ. 414 ।
17. नारायण श्रीमन्, (सं.), 'दि सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', वाल्यूम 4, पृ. 260 ।
18. वही, पृ. 258 ।
19. वही ।
20. प्रभु, आर.के. एवम् राव, यू.आर., 'दि माइन्ड ऑफ महात्मागांधी', पृ. 414 ।
21. नारायण श्रीमन्, (सं.), 'दि सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', वाल्यूम 4, पृ. 256 ।
22. प्रभु, आर.के. एवम् राव, यू.आर., 'दि माइन्ड ऑफ महात्मागांधी', पृ. 413 ।
23. बोस. एन.के., 'दि सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मागांधी' पृ. 307 ।
24. सिंह दशरथ, 'गांधीवाद को विनोबा की देन', बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, 1979 पृ. 269 ।
25. विनोबा चिंतन, अंक 29 पृ. 227 ।
26. वही ।
27. वही, पृ. 228 ।
28. सेठी जयदेव, 'गांधी की प्रांसगिकता', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली 1979, पृ. 5 ।
29. वही ।
30. वही ।

31. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 336 ।

32. वही, पृ. 337 ।

33. यंग इण्डिया, 17.6.1936 ।

34. हरिजन सेवक, 30.10.1937 ।

35. यंग इण्डिया, 18.6.1931 ।

36. हरिजन सेवक, 30.10.1937 ।

37. गांधी जी, (संग्राहक), हरिप्रसाद व्यास, 'ग्राम स्वराज्य', नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1998, पृ. 62 ।

38. श्री 'सुमन' रामनाथ, (सं.), गांधी जी 'सत्याग्रह', पृ. 424 ।

39. गांधी जी, (संग्राहक), हरिप्रसाद व्यास, 'ग्राम स्वराज', पृ. 63 ।

40. यंग इण्डिया, 14.10.1920 ।

41. मंगल प्रभात, पृ. 93-94 ।

42. हरिजन, 19.12.1936 ।

43. यंग इण्डिया, 11.4.1929 ।

44. हरिजन, 29.6.1935 ।

45. महात्मा गांधी, 'मेरे सपनों का भारत', पृ. 121-122 व यंग इण्डिया, 20.10. 1929 । 46. गांधी जी, 'यंग इण्डिया', 17.11.1925 पृ. 221 ।

47. गांधी जी, 'सर्वोदय', पृ. 15 ।

48. महात्मा गांधी, 'मेरे सपनों का भारत', पृ. 76 एवं यंग इण्डिया, 15.11.28 ।

49. वही ।

50. हरिजन, 15.1.1938 ।

51. गांधी जी, 'अहिंसक समाजवाद की ओर', नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1959, पृ. 190 ।

52. वही, पृ. 40-41 ।

53. यंग इण्डिया, 12.11.1931 पृ. 335 ।

54. विल्फ्रेड वेलॉक, (अनु.), चन्द्रकला मित्तल, 'गांधी एक सामाजिक क्रान्तिकारी', सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1960 पृ. 50-51 ।

55. गांधी जी, 'मेरे सपनों का भारत', पृ. 33 ।
56. यंग इण्डिया, 17.6.1927 ।
57. हरिजन सेवक, 20.9.1935 ।
58. हरिजन, 29.8.1936 ।
59. प्रसाद महादेव, 'महात्मा गांधी का समाज दर्शन' (अनुवाद, विष्णुकान्त शास्त्री) हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ 1989 पृ. 229 ।
60. हरिजन, 7 दिसम्बर 1935 ।
61. प्रसाद महादेव, 'महात्मा गांधी का समाज दर्शन' पृ. 229 ।
62. वेलॉक विल्फ्रेड, (अनु.), चन्द्रकला मित्तल, 'गांधी एक सामाजिक क्रान्तिकारी', पृ. 49 ।
63. वही, पृ. 50 ।
64. यंग इण्डिया, 18.10.1921 ।
65. मंत्री गणेश, 'मार्क्स, गांधी एवं समसामयिकी', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1983, पृ. 27 ।
66. वर्मा ताराचन्द, 'युग पुरुष महात्मा गांधी के आर्थिक विचार' पृ. 155 ।
67. वही, पृ. 156 ।
68. वही, पृ. 157 ।
69. श्रीवास्तव जगदीश सहाय, 'समाज दर्शन की भूमिका', पृ. 376 ।
70. वही, पृ. 379 ।
71. चड्ढा पी.के., 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', आदर्श प्रकाशन जयपुर, 1994 पृ. 122 ।
72. श्याम मधुकर, 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', कॉलेज बुक हाउस, जयपुर, 1993, पृ. 51 ।
73. चड्ढा पी.के., 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', पृ. 125 ।
74. श्याम मधुकर, 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', पृ. 52 ।
75. चड्ढा पी.के., 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', पृ. 126 ।
76. राजपुरोहित कन्हैयालाल, 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद', साइन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, 1991, पृ. 119 ।

77. उपरोक्त, पृ. 122 ।

78. उपरोक्त, पृ. 13 ।

79. उपरोक्त, पृ. 123 ।

80. उपरोक्त, पृ. 126 ।

81. उपरोक्त, पृ. 159 ।

82. उपरोक्त, पृ. 160 ।

83. श्याम मधुकर, 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', पृ. 63 ।

84. जैन पुखराज, 'भारतीय राजनैतिक विचारक', साहित्य भवन, आगरा, 1993, पृ. 116 ।

85. चड्ढा पी.के., 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', पृ. 150 ।

86. अग्रवाल आर.सी., 'भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक' एस. चन्द एण्ड क. नई दिल्ली, 1990, पृ. 24 ।

87. राजपुरोहित कन्हैयालाल, 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद', पृ 262 ।

88. उपरोक्त, पृ. 263 ।

89. अग्रवाल आर.सी., 'भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक', पृ. 70 ।

90. चड्ढा पी.के., 'प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक', पृ. 192 ।

91. राजपुरोहित कन्हैयालाल, 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद', पृ 266 ।

92. उपरोक्त, पृ. 210 ।

93. उपरोक्त, पृ. 212 ।

94. उपरोक्त, पृ. 216 ।

95. सिंह विजेन्द्र पाल, 'भारतीय राष्ट्रवाद और आर्य समाज आन्दोलन', वि.भू. प्रकाशन, साहिबाबाद, 1977, पृ. 124 ।

96. नागर पुरुषोत्तम, 'आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनैतिक. चिंतन', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 226 ।

97. उपरोक्त, पृ. 224 ।

98. राजपुरोहित कन्हैयालाल, 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद', पृ 382 ।

99. उपरोक्त, पृ. 384 ।

100. पाल राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृ. 147 ।

101. उपरोक्त, पृ. 151 ।

102. राजपुरोहित कन्हैयालाल, 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद', पृ 321 ।

103. उपरोक्त, पृ. 337,343 ।

104. नागर पुरुषोत्तम, 'आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनैतिक चिंतन', पृ. 445 ।

105. बोस सुभाषचन्द्र, 'तरूणाई के सपने', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1974, पृ. 149 ।

106. उपरोक्त, पृ. 133 ।

107. उपरोक्त, पृ. 166, 167, 168 ।

108. देवदत्त, 'स्वदेशी स्वराज ही क्यों', प्रज्ञा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 पृ. 125 ।

109. वही ।

110. गुरूमूर्ति एस., 'स्वदेशी: एक विकल्प', दिल्ली 1994, (उद्धृत देवदत्त, 'स्वदेशी स्वराज ही क्यों') पृ. 126 ।

111. वही ।

112. वही ।

113. सिंह रामजी, 'गांधी विचार' (दर्शन, धर्म, राजनीति व अर्थनीति), मानक पब्लिकेशन, दिल्ली, 1995, पृ. 121 ।

114. वही, पृ. 132 ।

115. वही, पृ. 121 ।

* * * * * * * *

चतुर्थ अध्याय

स्वराज्य की संकल्पना: स्वप्न और यथार्थ

किसी भी अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम उसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया जाता है। जिसके अन्तर्गत उसके सभी तत्वों, पक्षों, मूल्यों व आदर्शो का समावेश होता है। इस प्रक्रिया में विभिन्न चिंतको द्वारा स्वराज्य को भी विभिन्न संदर्भो में ग्रहण कर उसे व्याख्यायित और परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ चिंतको द्वारा स्वराज्य की अवधारणा को केवल राजनीतिक सन्दर्भ में ग्रहण कर उसे राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा स्वाधीनता (इण्डिपेन्डेन्स) के पर्याय के रूप में परिभाषित किया गया। किन्तु यह स्वराज्य की एकांगी व संकीर्ण व्याख्या है। स्वराज्य अत्यधिक व्यापक अवधारणा वाला शब्द है जिसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तात्विक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, वैचारिक इत्यादि विभिन्न आयाम है। इन विभिन्न आयामों को समाविष्ट करते हुए भी हम जब स्वराज्य को परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं तो यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या स्वराज्य राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वावलम्बन, सामाजिक समरसता, धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक अस्मिता का समुच्चय मात्र है? क्या स्वराज्य इतनी स्थूल अवधारणा है?

वस्तुत: स्वराज्य की संकल्पना में राजनीतिक स्वाधीनता, आर्थिक स्वावलम्बन, सामाजिक समरसता, धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक अस्मिता का प्रत्यय समाविष्ट होते हुए भी वह इनसे परे व व्यापक है। स्वराज्य की अवधारणा को पारमार्थिक अथवा तात्विक और व्यावहारिक स्वरूप के अधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। तात्विक स्वरूप में 'स्वराज्य' की तुलना शाङ्कर दर्शन के 'ब्रह्म' की अवधारणा से की जा सकती है। जिसका वर्णन 'नेति-नेति' कहकर किया जाता है तथा जिसकी अपरोक्षानुभूति 'सेल्फ रियलाइजेशन' होती है। इस रूप में हम स्वराज्य को मोक्ष या मुक्ति के पर्याय के रूप में पाते हैं जिसकी अनुभूति ही की जा सकती है जो प्रदत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वराज्य मूलत: वैचारिक अवधारणा है और परमार्थिक स्वरूप वाला है।

शाङ्कर दर्शन में जिस प्रकार ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप होने के साथ-साथ व्यावहारिक स्वरुप भी है और इस रुप में वह ईश्वर है, जो विभिन्न विशिष्टताओं से युक्त है तथा जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी है। उसी प्रकार स्वराज्य का व्यावहारिक स्वरुप भी है, जिसको विभिन्न रुपों- राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषिक- में परिभाषित किया जाता है। किन्तु जिस प्रकार सगुण ईश्वर पारमार्थिक निर्गुण ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति का साधन मात्र है उसी प्रकार ईश्वर रूपी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्वतंत्रता ब्रह्म रूपी स्वराज्य प्राप्ति का सोपान है। स्वराज्य के उपरोक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, प्रथम मनुष्य महज एक भौतिक इकाई न होकर आध्यात्मिक इकाई है। दूसरा, व्यक्ति तथा मानवता स्वयं में साध्य है। तीसरा, अन्य सभी राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था साधन मात्र है। चौथा, स्वराज्य प्रदत्त नहीं हो सकता, इसको स्वयं प्राप्त करना और अनुभूत करना होता है। वस्तुत: स्वराज्य सत्य है और सत्यता आत्मनिष्ठता है। अत: उसे तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक वह मुझमें या अनुभूत करने वाले में जीवन्त न हो जाय।

प्रस्तुत अध्याय में स्वराज्य के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पहलू को विभिन्न सन्दर्भो में व विभिन्न दार्शनिकों तथा चिंतको की दृष्टि से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है, जिससे स्वराज्य की अवधारणा को उसकी सम्पूर्णता में समझा जा सके। यद्यपि आधुनिक काल में तिलक ने स्वराज्य शब्द को प्रयुक्त करते हुए 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा दिया, साथ ही विभिन्न चिंतकों व दार्शनिकों ने इसका विभिन्न संदर्भो में प्रयोग किया, किन्तु महात्मा गांधी की स्वराज्य विषयक अवधारणा अपनी दृष्टि एवं गहन बोध दोनों आधारों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतएव हम सर्वप्रथम महात्मा गांधी के स्वराज्य विषयक अवधारणा का विवेचन व विश्लेषण करेंगे।

महात्मा गांधी ने स्वराज्य की अवधारणा को न केवल राजनीतिक वरन् आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, भाषिक, आर्थिक व सामाजिक संदर्भो में ग्रहण कर उसका व्यापक व सूक्ष्म विश्लेषण किया। गांधी जी नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतत्रता के आदर्शो के

गहरे भक्त थे, साथ ही उनके हृदय में राजनीतिक स्वतंत्रता की भी उत्कट कामना थी। उनके शब्दों में 'स्वराज्य की मेरी कल्पना के विषय में किसी को कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियंत्रण से पूरी मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है। उसके दो दूसरे उद्देश्य भी हैं। एक छोर पर है नैतिक और सामाजिक उद्देश्य एवं दूसरे छोर पर इसी कक्षा का दूसरा उद्देश्य है धर्म। यहाँ 'धर्म' शब्द का सर्वोच्च अर्थ अभीष्ट है। उसमें हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, इसाई धर्म आदि सबका समावेश होता है। लेकिन वह इन सबसे ऊँचा है। इसे हम स्वराज्य का समचतुर्भुज कह सकते हैं, यदि उसका एक भी कोण विषम हुआ, तो उसका रूप विकृत हो जायेगा।[1] उनके लिए स्वराज्य सत्य का ही अंग है और 'सत्य ईश्वर है' इसलिए स्वतंत्रता या स्वराज्य एक पवित्र शब्द है; वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्मशासन और आत्मसंयम है। अंग्रेजी शब्द 'इन्डिपेन्डेस' अक्सर सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी या स्वचछन्दता का अर्थ देता है, वह अर्थ स्वराज्य शब्द में नही।[2]

वस्तुत: स्वराज्य शब्द का उल्लेख प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रंथों वेद, उपनिषद इत्यादि में मिलता है। यह मूलत: भारतीय अवधारणा है। जो पाश्चात्य राजनीतिक स्वतंत्रता की अवधारणा से भिन्न, विशिष्ट और व्यापक है। शाब्दिक दृष्टि से स्वराज्य शब्द को विश्लेषित करने पर हम पाते हैं कि यह 'स्व' तथा 'राज्य' इन दो शब्दों के योग से निर्मित है। जिसका तात्पर्य है अपना राज्य या अपना शासन, अर्थात् अपने द्वारा अपने ऊपर शासन ही स्वराज्य है। इस प्रकार स्वराज्य आत्मशासन एवं आत्मनियंत्रण है। किन्तु प्रश्न उठता है कि आत्मानुशासन या आत्मसंयम से गांधी जी का क्या तात्पर्य है? वस्तुत: इसका अर्थ है आत्मा का शरीर के सम्पूर्ण अस्तित्व पर नियंत्रण अर्थात् जब व्यक्ति 'अपनी अन्तर्रात्मा की आवाज के अनुसार अपने जीवन के वाह्य आचरणों को क्रियान्वित करता है तब वह सही अर्थो में स्वतंत्र होता है। इस प्रकार गांधी जी की दृष्टि में अपनी ही विवेक सम्मत इच्छा एव अन्तश्चेतना की आवाज के अनुसार कार्य करने में स्वतंत्रता निहित है। दूसरों की इच्छा से निर्देशित होना परतंत्रता है। वस्तुत: गांधी जी के लिए स्वराज्य एक

समग्र वस्तु थी। वासनाओं की दासता से मुक्ति के रूप में नैतिक स्वतंत्रता, विदेशी शासकों तथा शोषकों के बन्धनों से मुक्ति के रूप में राष्ट्रीय स्वतंत्रता और मोक्ष तथा सत्य के साक्षात्कार के रुप में आध्यात्मिक स्वतंत्रता, ये सब स्वराज्य के ही विभिन्न रूप हैं।

स्पष्ट है कि गांधी के चिंतन मे स्वतंत्रता या स्वराज्य न तो मात्र अधिकारों की व्यवस्था है और न महज वाह्य बन्धनों से मुक्ति है वरन् यह मनुष्य के भीतर अवस्थित है। अपने भीतर अपनी ही प्रकृति में निहित 'नैतिकता' को पहचानना व उसके अनुरुप आचरण करना ही असली स्वराज्य है। गांधी जी के अनुसार मनुष्य मूलत: एक नैतिक प्राणी है।[3] तथा प्रत्येक व्यक्ति में इस प्रकार के पूर्ण नैतिक स्वरुप को प्राप्त करने की क्षमता होती है।[4] गांधी जी के अनुसार व्यक्ति का चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है, इसके लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है और इस हेतु नैतिक अनुशासन के रुप में एकादश व्रत का परिपालन आवश्यक है। उनकी दृष्टि में नैतिक स्वतत्रता का अर्थ यह नहीं था कि मनुष्य अपने वैयक्तिक अहं के दावों को अहकारपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न करे, बल्कि आध्यात्मिक सत्ता के साथ एकात्म स्थापित करना ही नैतिक स्वतंत्रता है। दूसरे शब्दों में परात्पर आत्म का साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रियों और वासनाओं की भौतिक मार्गो पर विजय प्राप्त करना ही स्वतंत्रता है। वस्तुत: जो व्यक्ति अपनी वासनाओं से मुक्त हो जाता है वह सहन नहीं कर सकता कि उसके पड़ोसियों का सामाजिक व आर्थिक शोषण किया जाय, क्योंकि वह जानता है कि वे उसी की आत्मा है। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट के अनुसार भी अन्त:करण के आदेशों का पालन करने में ही व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव करता है।

गांधी जी की मान्यता थी कि वाह्य स्वतंत्रता आन्तरिक स्वतंत्रता पर ही निर्भर है और उसके बिना निरर्थक है। किन्तु यह अन्त:करण की स्वतंत्रता व्यक्ति को अपने निम्न इच्छाओं के दासत्व से मुक्त होने पर ही प्राप्त होती है। 'स्वराज्य का असली मतलब आत्मसंयम है। आत्मसंयम वही रख सकता है जो सदाचार के नियमों का पालन करता है- ऐसा आदमी भले कहीं भी रहे, स्वराज्य का सुख भोगता है।

जो राज्य बड़ी संख्या में इसी तरह के भले नागरिकों के होने का गर्व कर सकता है, वह स्वराज्य का उपभोग करता है।[5] इस प्रकार मन, वचन व कर्म के द्वारा सद्‌गुणों से युक्त प्रत्येक व्यक्ति के सुधार द्वारा ही समाज का आदर्श स्वरुप स्थापित होता है। इस प्रकार गांधी जी के कल्पित स्वराज्य या रामराज्य का प्रमुख आधार स्वशासित, आत्मनियंत्रित व्यक्ति ही है। गांधी के मत में 'किसी प्रजा को वैसा ही राज्य मिलता है, जिसे पाने की योग्यता उसमें होती है। राज्य का स्वरूप तो केवल जनता के नैतिक स्तर की मूर्त अभिव्यक्ति मात्र होता है। इस प्रकार यदि जनता सच्चे अर्थ में अहिंसक न हो तो ऊपर से लोकतांत्रिक दिखायी देने वाले संविधान के अधीन भी शोषण और हिंसा विद्यमान रहते है, जैसा कि अधिकतर पश्चिमी देशों में देखने को मिलता है। वास्तव में ज्योंही जनता आत्मनियंत्रण प्राप्त कर लेती है तथा आपस में स्वेच्छा से सहयोग करना और शोषक के साथ असहयोग करना सीख लेती है, त्यों ही अहिंसा के आचरण की गौण उपज के रूप में अहिंसक राज्य अपने आप जन्म ले लेता है।[6]

इस प्रकार गांधी जी का उद्देश्य समाज को परिवर्तित करने की अपेक्षा स्वयं मानव को बदलने का अधिक है। उनका विचार था कि यदि व्यक्ति अपने को परिवर्तित कर ले तो समाज स्वयमेव परिवर्तित हो जायेगा। उनका विश्वास था कि सामाजिक, राजनीतिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन मानव प्रकृति में भी कुछ परिवर्तन ला सकते है, परन्तु वे मात्र सतही होते है, ऐसे तात्विक नहीं कि बुराईयों को पूर्णतः उन्मूलित कर सके। दृढ़ आत्मानुशासन द्वारा मानव प्रकृति के शुद्धीकरण का स्थायी प्रयास किया जाता है, और इसी आधार पर 'रामराज्य' की स्थापना भी सम्भव हो जाती है।

स्वराज्य या रामराज्य में सर्वोदय की धारणा का समावेश है और यह धारणा विभेद और विषमता की सभी रेखाएँ मिटा देने का आग्रह करती है। इसके अन्तर्गत सभी समान होंगे। गांधी के शब्दों- 'मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करुँगा जिसमें गरीव से गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्व है। जिसमें ऊँच नीच वर्गो का भेद नहीं होगा और

जिसमें विविध सम्प्रदायों में पूरा मेल-जोल होगा। ऐसे भारत में अस्पृश्यता का या शराब तथा नशीली चीजों के अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। जिसमें स्त्रियों के वही स्थान होंगे जो पुरुषों के। चूँकि शेष सारी दुनियाँ के साथ हमारा सम्बन्ध शान्ति का होगा यानि न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे।[7] स्वराज्य की अवधारणा जाति और सम्प्रदाय से परे सभी वर्गो के कल्याण से सम्बन्धित है जिसे गांधी जी ने पूर्ण स्वराज्य कहा है। गांधी जी के अनुसार पूर्ण स्वराज्य का आशय है कि "वह जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसान के लिए, जितना किसी धनवान जमींदार के लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतिहर के लिए, जितना हिन्दुओं के लिए होगा, उतना ही मुसलमानों के लिए, जितना जैन, यहूदी, सिख के लिए होगा उतना ही पारसियों एवं इसाईयों के लिए। उसमें जाति-पांति, धर्म या दरजे के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा।[8] गांधी जी ने इस गलत अवधारणा का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया कि भारत का स्वराज्य किसी धर्मविशेष के लिए ही होगा। उनके शब्दों में- "कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भारतीय स्वराज्य तो ज्यादा संख्या वाले समाज का यानी हिन्दुओं का ही राज्य होगा। इस मान्यता से ज्यादा बड़ी दूसरी गलती नहीं हो सकती। अगर यह सिद्ध हो तो अपने लिए मैं ऐसा कह सकता हूँ कि मैं उसे स्वराज्य मानने से इन्कार कर दूँगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध करुँगा। मेरे लिए हिन्द स्वराज्य का अर्थ है सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है।[9] गांधी के अनुसार "स्वराज्य शब्द का अर्थ स्वयं और उसकी प्राप्ति के साधन अर्थात् सत्य और अहिंसा-जिनका पालन करने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं- ऐसी किसी सम्भावना को असम्भव सिद्ध करते हैं कि हमारा स्वराज्य किसी के लिए तो अधिक होगा, किसी के लिए कम, किसी के लिए लाभकारी होगा और किसी के लिए हानिकारक या कम लाभकारी।[10] इस अहिंसक स्वराज्य में न्यायपूर्ण अधिकारों का किसी के भी द्वारा कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता और इसी तरह किसी को कोई अन्यायपूर्ण अधिकार नहीं हो सकता।[11] गाँधी के अनुसार "अगर स्वराज्य का अर्थ हमें सभ्य वनाना और हमारी सभ्यता को अधिक शुद्ध तथा मजबूत बनाना न हो तो वह किसी कीमत का नहीं होगा। हमारी सभ्यता का मूल तत्व ही यह है कि हम अपने

सब कामों में, वे निजी हों या सार्वजनिक नीति के पालन को सर्वोच्च स्थान देते हैं।[12]

गांधी जी ने स्वराज्य को वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा से भी जोड़ा। भारत का स्वराज्य राष्ट्र की सीमाओं से परे समस्त विश्व के कल्याण से सम्बन्धित है। गांधी के शब्दों में- "मेरा देश इसलिए स्वाधीन हो कि प्रयोजन उपस्थित होने पर सारा ही देश मानव जाति की प्राण रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करे। उसमें जाति द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है। मेरी कामना है कि हमारा राष्ट्र प्रेम ऐसा ही हो।[13] पुनः उन्होंने कहा कि मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूँ कि सारी दुनियाँ उससे लाभ उठा सके। मैं यह नहीं चाहता कि भारत का उत्थान दूसरे देशों के नाश की नींव पर हो।[14] वस्तुतः गांधी जी के देश-प्रेम और मानव प्रेम में कोई विभेद नहीं था। यह देश प्रेम मानव प्रेम पर ही आधारित है तथा यह किसी प्रकार वर्जनशील नहीं है।[15] उनके अनुसार देश-प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह हमेशा, बिना किसी अपवाद के हर एक स्थिति में, मानव जाति के विशालतम हित के साथ सुसंगत होना चाहिए और यदि ऐसा न हो तो देश-प्रेम की कोई कीमत नहीं।[16] वे न केवल मानव जाति के साथ वरन् समस्त प्राणी मात्र के साथ भ्रातृत्व और एकात्मकता का अनुभव करने के पक्षधर थे। इसके मूल में एक स्रष्टा की सन्तति होने का विचार था। स्पष्ट है कि गांधी के स्वराज्य का लक्ष्य स्वतंत्रता से ज्यादा ऊँचा है।

गांधी जी व्यावहारिक दृष्टि से राजनीतिक स्वाधीनता को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते थे किन्तु उनके अनुसार यह राजनैतिक स्वराज्य न केवल पराधीनों के लिए अपरिहार्य है वरन् दूसरे राष्ट्रों को पराधीनता में रखने वाले राष्ट्र के लिए भी अपरिहार्य है, क्योंकि दूसरे राष्ट्र को पराधीनता में रखने वाला राष्ट्र भी स्वयं पराजय की भूमिका तैयार कर लेता है, दूसरे राष्ट्र को पराधीन बनाना स्वयं अपनी स्वतंत्रता का निषेध करना है। गांधी जी का मंतव्य है कि जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति बिना अपने को गुलाम बनाये किसी अन्य को गुलाम नहीं वना सकता उसी प्रकार कोई भी देश दूसरे देश को अपना आश्रित तब तक नहीं वना सकता जब तक वह

स्वयं एक आश्रित राष्ट्र में परिवर्तित न हो जाये क्योंकि किसी भी प्रकार का शोषण उनकी अपनी नैतिक शक्ति का पतन है। गांधी ने राजनीतिक स्वाधीनता के अन्तर्गत अपनी शासन पद्धति को किसी विदेशी शासन पद्धति के अनुरुप बनाने के बजाय अपनी प्रकृति के अनुरुप बनाने पर बल दिया। उनके अनुसार 'राजनीतिक स्वतंत्रता से मेरा यह मतलब नहीं कि हम ब्रिटेन की लोकसभा की या रुस के सोवियत शासन की या इटली के फासिस्ट अथवा जर्मनी के नाजी शासन की नकल करें। उन देशों की शासन पद्धतियां उनकी अपनी प्रकृति के अनुरूप हैं। हमारी शासन पद्धति हमारी प्रजा की प्रकृति के अनुरुप होनी चाहिए। वह पद्धति क्या हो सकती है, यह कहना मेरे लिए कठिन है। मैंने उसे रामराज्य कहा है। रामराज्य का अर्थ है शुद्ध नैतिक सत्ता के आधार पर स्थापित जनता की सार्वभौम सत्ता।[17] गांधी राज्य व राजनीतिक सत्ता को न्यूनतम व यथासम्भव समाप्त करने के पक्षधर थे। गांधी जी की दृष्टि में, राज्य व्यक्ति की अपूर्णता का द्योतक है, तथा इसका आधार हिंसा व शक्ति है। अत: वे मानव को इतना अनुशासित बनाने की परिकल्पना करते हैं कि उसे राज्य की आवश्यकता का ही अनुभव न हो। इसलिए उन्होंने आदर्श अहिंसक समाज के लिए आत्मसंयम पर बल दिया है जिसका आधार सदाचार है। उनके लिए राजनीतिक शक्ति साधन मात्र था जो मनुष्य के सर्वागीण विकास का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक है। इसलिए उन्हें दार्शनिक अराजकतावादी भी कहा जाता है। उनकी दृष्टि में आदर्श सामाजिक व्यवस्था वही है जिसमें राज्य का लोप हो जाय।" गांधी जी के शब्दों में "मैं राज्य की सत्ता की वृद्धि को बड़े से बड़े भय की दृष्टि से देखता हूँ क्योंकि जाहिर तौर पर तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुँचाती है, परन्तु व्यक्तित्व को जो कि सब प्रकार की उन्नति की जड है- नष्ट करके वह मानव जाति को बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाती है। क्योंकि राज्य केन्द्रित और संगठित रुप से हिंसा का प्रतीक है। व्यक्ति की आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्मा रहित जड़ मशीन होता है, इसलिए उससे हिंसा कभी छुड़वायी नहीं जा सकती, उसका अस्तित्व ही हिंसा पर निर्भर है।[18] गांधी के अनुसार "मेरी दृष्टि में राजनीतिक सत्ता कोई साध्य नहीं है, परन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है। राजनीतिक

सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्मनियमन कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती है। उस समय ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति में हर एक अपना राजा होता है और वह इस ढंग से अपने पर शासन करता है कि अपने पड़ोसियों के लिए कभी बाधक नहीं बनता। इसलिए गांधीजी ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अर्थ में भी स्वराज्य का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उन्होंने भारत को साम्राज्यवादी बन्धनों से मुक्त कराने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। किन्तु इस राष्ट्रीय स्वाधीनता के स्वरुप, उद्देश्य और प्राप्ति के साधन व इसके संरक्षण के उपाय के सम्बन्ध में उनके अपने मौलिक विचार थे। उनके अनुसार जिस प्रकार हर देश खाने-पीने और सास लेने के लायक हैं, उसी प्रकार हर राष्ट्र को अपना कारबार चलाने का पूरा अधिकार है, फिर वह कितनी ही बुरी तरह क्यों न चलावे।[19] गांधी के मत में "स्वराज्य से अभिप्राय है लोक सम्मति के अनुसार होने वाला भारत वर्ष का शासन। लोक सम्मति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी से बड़ी तादात के मत के द्वारा हो, फिर वे चाहे स्त्रियां हो या पुरुष, इसी देश के हो या इस देश में आकर बस गये हो।[20] गांधी की दृष्टि में लोकमत की अवज्ञा करने वाला हर शासक विदेशी है। सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता है तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर अधिकार करने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है।[21] गांधी ने राजनीतिक स्वतंत्रता को महज एक साधन के रुप में स्वीकार किया है। इस राजनीतिक स्वाधीनता के माध्यम से व्यक्ति को आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी व बन्धनमुक्त बनाना है। स्वराज्य का अर्थ न केवल विदेशी शासन से मुक्त होना है वरन् स्वशासन' है और इस दृष्टि से इसमें सरकारी नियंत्रण से भी मुक्ति का आग्रह अनुस्यूत है। इस सन्दर्भ में "स्वराज्य का अर्थ सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का। यदि स्वराज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी

बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरु कर दे तो वह स्वराज्य सरकार किसी काम का नहीं होगा।[22] अर्थात् वही राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को सही अर्थ दे सकता है जहाँ लोग आत्मानुशासित हो। यहाँ पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि गांधी जी के राजनैतिक स्वराज्य से आशय केवल विदेशी शासन से मुक्ति ही नहीं वरन् उन सभी शोषकों और आततायियों से भी स्वतंत्रता है जो देश के भीतर मौजूद है। उनके अनुसार "हमें एक ही प्रश्न को ध्यान में रखना है कि किस प्रकार लाखों व्यक्ति स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं? आप लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि अनेकों भारतीय राजाओं के शासन के अन्तर्गत लोगों को दफना दिया जा रहा है, वे क्रूरता से उन्हें कुचल दे रहे हैं उनकी निरंकुशता अंग्रेजों के तानाशाही से भी अधिक है और यदि आप ऐसी ही तानाशाही भारत में लाना चाहते हैं तब वह मुझे स्वीकार नहीं। मेरी देशभक्ति मुझे यह नहीं सिखाती कि मैं लोगों को भारतीय राजाओं के पैरों तले उसी प्रकार कुचलवाने दूँ जिस प्रकार वे अंग्रेजों द्वारा कुचले जाते हैं। देशभक्ति से मेरा तात्पर्य सब लोगों के कल्याण से है।"

पराधीनता के दिनों में लिखी गयी अपनी कहानी 'आहुति' में प्रेमचन्द्र यही प्रश्न करते हैं कि 'अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे तो मै कहूँगा ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है। जिन बुराईयों को दुर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं उन्हीं बुराईयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी है? कम से कम मेरे लिए स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है।[23] इसी प्रकार गोदान उपन्यास में विरोध अंग्रेजी हुकूमत से सिर्फ नहीं है बल्कि उस पूरी व्यवस्था से है जो इस देश में लुटेरों की संस्कृति को जन्म दे रही है। आज भी यह विचारधारा अत्यधिक प्रासंगिक है।

गांधी की दृष्टि में आदर्श व्यवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नही होती, क्योंकि कोई राज्य नही होता। परन्तु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती। इसलिए थोरो ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे वह उत्तम सरकार है।[24]

गांधी ने इस प्रश्न पर भी व्यावहारिक दृष्टि से विचार व्यक्त किया है कि आदर्श समाज में कोई राजसत्ता रहेगी या वह एक बिल्कुल अराजक समाज बनेगा? उनके अनुसार "अगर हम ऐसे समाज के लिए मेहनत करते रहें, तो वह किसी हद तक बनता रहेगा और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुँचेगा। युक्लिड ने कहा है कि लाइन वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो। लेकिन ऐसी लाइन या लकीर न तो आज तक कोई बना पाया, न बना पायेगा। फिर भी ऐसी लाइन को ख्याल में रखने से ही प्रगति हो सकती है। और हर एक आदर्श के बारे में यही सच है। गांधी के मत में यद्यपि रामराज्य अर्थात् आदर्श राज्य अथवा पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य में जनता की नैतिक शक्ति का प्रभुत्व होगा और हिंसा की व्यवस्था के रूप में राज्य का विनाश हो जायेगा। किन्तु वे राज्य की शक्ति को तत्काल समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। यद्यपि उनका अन्तिम उद्देश्य नैतिक तथा दार्शनिक अराजकतावाद है। गांधीजी के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों को देखते हुए .बहुत सारे विचारकों ने गाधी को अराजकतावादी कहा। जी.एन. धवन ने अपनी पुस्तक "पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी" में गांधी जी को दार्शनिक अराजकतावादी कहा है।[25] प्रसिद्ध विचारिका जॉन बांडुरेन्ट उनकी इस विचारधारा से सहमत नहीं है।[26] क्योंकि उनके अनुसार धवन ने गांधी के दर्शन में निहित अराजकतावादी तत्वों को देखा परन्तु उन तत्वों का उन्होंने किस प्रकार राजनैतिक संगठन के साथ समन्वय किया यह वह नहीं देख सके। व्यक्तियों के मध्य सहयोग राज्य की शक्ति के आधार पर नहीं स्थापित किया जायेगा वरन् सत्याग्रह की तकनीक के द्वारा अहिंसात्मक तरीके से किया जायेगा।

वस्तुतः गांधी जी की स्वतंत्रता की अवधारणा को किसी भी पाश्चात्य प्रत्ययों के मापक से देखना उनके विचारों में निहित सत्यता से अलग हो जाना है। अराजकतावादियों के लिए स्वतंत्रता सबसे बड़ा उद्देश्य अवश्य है परन्तु वह गांधी की आध्यात्मिक स्वतंत्रता नहीं है। अधिक से अधिक उसका रुप रसेल की रचनात्मक स्वतंत्रता का हो सकता है। जहाँ स्वतंत्रता मनुष्य की रचनात्मकता को प्राप्त करने का एक साधन है। गांधी जी ने अपने राजनीतिक स्वराज्य की अवधारणा के

अन्तर्गत जिस शासन पद्धति को सर्वाधिक महत्व दिया वह लोकतंत्र है। किन्तु यह लोकतंत्र पश्चिम के लोकतंत्र की नकल नहीं क्योंकि गांधी के मत में पश्चिम का आज का प्रजातंत्र जरा हल्के रंग का नाजी और फासिस्ट. तंत्र ही है। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि यह प्रजातंत्र साम्राज्यवाद की नाजी और फासिस्ट चाल को ढकने के लिए आडम्बर है। हिन्दुस्तान के प्रजातंत्र में हिंसा का कोई स्थान नहीं होगा।[27] वस्तुतः गांधी की दृष्टि में लोकतंत्र और हिंसा का मेल नहीं बैठ सकता। लोकतंत्र की नींव अहिंसा पर ही आधारित हो सकती है।[28] प्रजातंत्र का अर्थ है इस तंत्र में नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलना चाहिए। लेकिन सिवाय अहिंसा के ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। इस अहिसा पर आधारित स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सारी जनता की भलाई का सामान्य उद्देश्य सिद्ध करने में हर एक अपना अभीष्ट योग देता है। लोकतत्र की व्याख्या करते हुए गांधी जी ने कहा- "मेरी कल्पना का प्रजातंत्र वह है जिसमें अत्यन्त दुर्बल लोगों को वही अवसर प्राप्त हो, जो कि अत्यन्त बलवानों को प्राप्त है।[29] गांधी जी का विश्वास था कि वही शासन सर्वोत्तम है, जिसमें कमजोर और बलवान दोनों की बातें बराबर एवं समान रुप देखी एवं समझी जाय और रास्ता चलने वाला जो बोले वह भी सुना जाय।[30] इसके लिए आत्मबल के विकास पर उन्होंने जोर दिया है।[31] इसीलिए गांधीवादी चिंतक प्रो. रामजी सिंह ने कहा है कि "सच्चे जनतंत्र के लिए संख्या बल नहीं धर्म बल और आत्म बल चाहिए। महत्व मत का का नहीं, विश्वास का है, गणना नहीं, श्रद्धा एवं आस्था का है।[32]

अहिंसक समाज की संरचना में केन्द्रीकरण की पद्धति असंगत है। गांधी ने अपने विकेन्द्रीकृत आदर्श समाज की निकटतम पहुँच भारत के स्वायन्तपूर्ण ग्राम समुदाय (ग्राम स्वराज्य) में देखी है।[33] यह समाज परस्पर प्रेम, सहयोग, सौहार्द्र और विश्वास पर आधारित है। सत्ता में बैठे हुए कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के द्वारा शासन का केन्द्रीकरण उन्हें मान्य नहीं था। उनकी मान्यता थी कि शासन में गाँव के प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी हो। "सच्चे लोकतंत्र का संचालन केन्द्र में बैठे हुए

बीस आदमियों से नहीं हो सकता। उसका संचालन नीचे से प्रत्येक गॉव के लोगों द्वारा करना होगा।[34] गांधी की मान्यता थी कि भारत अपने चन्द शहरों में नहीं वरन् सात लाख गॉवों में बसा हुआ है। गाँव उतने ही पुराने है जितना कि यह भारत पुराना है। अतएव गाँवों का नाश होता है, तो भारत का भी नाश हो जायेगा। उस हालत में भारत-भारत नहीं रहेगा। यदि हमें स्वराज्य की रचना अहिंसा के पाये पर करनी है, तो गॉवों को उनका उचित स्थान देना होगा।[35]

गांधी जी ने ग्राम स्वराज्य की परिकल्पना एक ऐसे पूर्ण, प्रजातंत्र के रूप में की है जो राजनीतिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से आत्मनिर्भर स्वतंत्र, स्वावलम्बी होगा। गाधी आजादी को निचले स्तर से प्रारम्भ करना चाहते थे। उनके अनुसार- ''आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हर एक गाँव में लोगों की हुकूमत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हर एक गांव को अपने पांव पर खड़ा होना होगा- अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। यहां तक कि वह सारी दुनियाँ के खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके।''[36] इस प्रकार गाँव अपने आप में सुरक्षित होंगे उन्हें किसी भी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं होगी। अपना प्रबन्ध-पंचायतों के माध्यम से वे स्वयं करेंगे। गाँव समाज के शक्तिशाली संगठन के रूप में परिवर्तित हो जायेगा। इन गांवों में किसी भी प्रकार का भेदभाव, असमानता, शोषण नहीं होगा। सभी एक दूसरे की शांति एवम् सुरक्षा में सहयोग करेगे। एक दूसरे के प्रति प्रेम, सद्भाव सहानुभूति रखेंगे। तथा अपने कर्तव्यों के प्रति सदैव जागरूक होगे। गांधी के शब्दों में- ''ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि यह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं होगा, और फिर बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए- जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा- वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हर एक गांव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। इसके अलावा उसके पास सुरक्षित जमीन होनी चाहिए जिसमें ढोर चर सके और गांव के बड़ों के लिए मनवहलाव के साधन और खेलकूद के मैदान

वगैरह का आयोजन हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा जिन्हें बेचकर आर्थिक लाभ उठा सके, लेकिन वह गांजा, तम्बाकू, अफीम, वगैरह की खेती से बचेगा। हर एक गॉव में गॉव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभाभवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा। बुनियादी तालीम के आखिर दरजे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गॉव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जात-पॉत और क्रमागत अस्पृश्यता जैसे भेद आज हमारे समाज में पाये जाते हैं, वे इस ग्राम समाज में बिल्कुल नही रहेंगे।[37]

गाँधी जी ने स्वराज्य के अन्तर्गत जिस समाज की परिकल्पना की है वह समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पायों पर निर्भर होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शकल में होगी और व्यक्ति इनका मध्य बिन्दु होगा। यह व्यक्ति हमेशा अपने गॉव के खातिर मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायेगा जों घंमडी बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते बल्कि हमेशा नम्र रहते है, और अपने में समुद्र की उस शान को महसूस करते है, जिसके वे एक जरूरी हिस्से है।[38]

गांधी ने ग्राम स्वराज्य के अन्तर्गत जिस ग्राम पंचायत का उल्लेख किया है उनके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि उन पंचायतों के संगठन का आधार क्या होगा? उनकी कार्यपद्धति किस प्रकार की होगी? इस सम्बन्ध में गांधी जी की मान्यता थी कि गांव का शासन चलाने के लिए हर गाँव के पांच आदमियों की एक पंचायत चुनी जायेगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गॉव के बालिग स्त्री-पुरूष को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूँकि इस ग्राम स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दण्ड का कोई रिवाज नहीं रहेगा,

इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही विधानसभा, न्यायसभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी।

गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि जब पंचायतराज स्थापित हो जायेगा, तब लोकमत ऐसे भी अनेक काम कर दिखायेगा, जो हिंसा कभी नहीं कर सकती। इस पंचायत राज में केवल पंचायत की आज्ञा मानी जायेगी और पंचायत अपने बनाये हुए कानून के द्वारा ही अपना कार्य करेगी[39] ग्रामकार्य की यह सफलता ही स्वराज्य की परिकल्पना का मूर्त स्वरूप होगा। गाँधी के ग्राम स्वराज्य में किसानों के पास राजनीतिक सत्ता के साथ हर किस्म की सत्ता होगी। किसानों को उनकी योग्य स्थिति मिलेगी और देश में उनकी आवाज ही सबसे ऊपर होगी। वस्तुतः भारत की आत्मा गाँव और किसान है। किन्तु शहरवासियों ने आम तौर पर ग्रामवासियों का शोषण किया है जबकि सच्चाई यह है कि वे गरीब ग्रामवांसियों के मेहनत पर ही जीते हैं। वस्तुतः गाँवों और शहरों के बीच स्वस्थ और नीतियुक्त सम्बन्ध का निर्माण तब होगा, जबकि शहरों को अपने इस कर्तव्य का ज्ञान होगा कि उन्हें गांवों का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करने के बजाय, गांवों से जो शक्ति और पोषण वे प्राप्त करते हैं, उसका पर्याप्त बदला देना चाहिए।[40]

गांधी जी ने आध्यात्मिक समाजवाद के आदर्श को स्वीकार किया, उनके विचार में राज्य रहित आदर्श सामाजिक व्यवस्था तभी पूर्ण हो सकती है जबकि समाज के प्रत्येक वर्ग को जीवन की साधारण व आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हो जायें, किन्तु वे इस प्रकार के रामराज्य की स्थापना के लिए किसी राजनैतिक शक्ति के संगठन को आवश्यक नहीं मानते। क्योंकि उस शक्ति के द्वारा सर्वोदय व समाजवाद के आदर्श की स्थापना सम्भव नहीं है, इससे व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता, बल्कि उसका शोषण व दमन होता है इस प्रकार स्वराज्य का अर्थ है ''विशुद्ध नैतिक स्तर पर आधारित जनता का प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य, सच्चा लोकतंत्र अर्थात् सर्वोदय।[41] गांधी जी राज्य को हिंसा का स्रोत मानते थे, इसके विकल्प में उन्होंने रामराज्य को आदर्श राज्य का रुप माना। इसमें व्यक्ति विधि के द्वारा संचालित नहीं होता, वरन् प्रत्येक व्यक्ति सत्य के निर्देशों का पालन करते हुए अपने अन्तःकरण की आवाज

से उद्घाटित नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित होता है। रामराज्य का अर्थ है नीतिपरायण का शासन और इसे ''धर्मराज्य'' सद्गुण का शासन भी कहा जा सकता है।[42]

स्वराज्य या 'रामराज्य' की आदर्श व्यवस्था के अन्तर्गत किन भावनाओं तथा किस सामाजिक व्यवस्था का समावेश है, इसकी परिभाषा 22 जून 1945 को पंचगनी से लिखे गये एक लेख में गांधी जी ने इस प्रकार दी है- इस ''रामराज्य'' को धार्मिक दृष्टि से पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य कहा जा सकता है। राजनैतिक दृष्टि से यह ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें संपत्ति, रंग, जाति, धर्म या लिंग के आधार पर स्थापित असमानताओं का सर्वथा अन्त हो जाता है। इसमें जनता ही भूमि और राज्य की अधिकारिणी होती है, न्याय शीघ्र, पूर्ण, सस्ता और शुद्ध मिलता है, पूजा, भाषण तथा प्रेस की स्वतंत्रता होती है और यह सब इसलिए होता है कि नैतिक नियंत्रण के स्वयं स्वीकृत कानून का शासन होता है। इस प्रकार का राज्य सत्य और अहिसा पर आधारित होना चाहिए और वह समृद्धिशाली, सुखी और स्वाश्रयी ग्रामों और ग्राम समाजों का बना होना चाहिए।[43] इस प्रकार गांधी जी की आदर्श व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति सत्य और अहिंसा सद्गुण के द्वारा अपने कार्यों की ओर प्रेरित होगा और तब राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। प्रेम और सामाजिक सामंजस्य का सिद्धान्त इस व्यवस्था का प्रमुख आधार है। इसमें किसी प्रकार का वाह्य प्रतिबन्ध नहीं रहेगा और व्यक्ति स्वतंत्र तथा समतापूर्ण जीवन व्यतीत करेगा। आत्मसंयम का नियम ही प्रचलित होगा। एक निश्चित सर्वोच्च मानव की संप्रभुता के स्थान पर व्यक्ति शुद्ध नैतिकता की संप्रभुता को स्वीकार करेगा। हर प्रकार के उत्पीड़क प्रशासन से मुक्त यह पृथ्वी पर ईश्वर का वास्तविक राज्य होगा।

महात्मा गांधी ने भाषा के प्रश्न को भी स्वराज्य की अवधारणा से जोड़ा। इस सन्दर्भ में उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा व राजभाषा हिन्दी ही होगी। यद्यपि अन्य प्रान्तीय भाषाओं का अपनी जगह महत्व है। ''हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है। अंग्रेजी के व्यामोह से छुटकारा पाना स्वराज्य के लिए एक जरूरी शर्त है।[44] गांधी के अनुसार 'अगर स्वराज्य अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए हो तो निस्सन्देह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी।

लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ो भूखों मरने वालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निरक्षर बहनों और दलितों व अन्त्यजों का हो और इन सबके लिए हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।[45] गांधी अंग्रेजी भाषा को मानसिक गुलामी का प्रतीक मानते थे। उनके अनुसार आज अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही हम यह मानने लगे हैं कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। मैं इस चीज को नहीं मानता।''[46] गांधी जी को अपनी मातृभाषा से बेहद आत्मीयता व लगाव था। उनके अनुसार मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियां क्यों न हो, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा, जिस तरह बच्चा अपनी माँ की छाती से।वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। लेकिन अगर अंग्रेजी उस जगह को हड़पना चाहती है जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूँगा।[47] गांधी के दृष्टि में भाषा अपने बोलने वालों के चरित्र और विकास का सच्चा प्रतिबिम्ब होता है। अतएव शिक्षित भारतीय जितनी जल्दी विदेशी माध्यम के भयंकर वशीकरण से बाहर निकल जाय, उतना ही उनका और जनता का लाभ होगा।[48]

गांधी के अनुसार विदेशी माध्यम ने हमारी देशी भाषाओं की प्रगति और विकास को रोक दिया है। अतएव मेरे हाथ में यदि तानाशाही सत्ता हो तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिये दी जाने वाली हमारे लड़कों और लडकियों की शिक्षा बन्द कर दूँ और सारे शिक्षिको और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूँ या उन्हें बरखास्त करा दूँ। मैं पाठ्य पुस्तकों की तैयारी का इन्तजार नहीं करूँगा। वे तो माध्यम परिवर्तन के पीछे-पीछे अपने-आप चली जायेंगी। यह एक ऐसी बुराई है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए।[49] मुझे यह नहीं बरदाश्त होगा कि हिन्दुस्तान का एक भी आदमी अपनी मातृभाषा को भूल जाय, उसकी हंसी उड़ाये, उससे शरमाये या उसे यह लगे कि वह अपने अच्छे से अच्छे विचार अपनी भाषा में नहीं रख सकता।''[50]

गांधी जी के विचार में भारत आज जिन वहमों का शिकार है, उनमें सबसे बड़ा वहम यह है कि स्वातन्त्रय से सम्बन्धित विचारों को हृदयगम करने के लिए और तर्कशुद्ध चिन्तन की क्षमता का विकास करने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान

आवश्यक है। वस्तुतः कोई भी देश नकलचियों की जाति पैदा करके राष्ट्र नहीं बन सकता। गांधी जी के अनुसार मैं ऐसे कुछ कुटुम्बों को जानता हूँ, जिनमें अंग्रेजी भाषा को अपनी मातृभाषा बना लिया जाता है। इस बुराई ने समाज में इतना घर कर लिया है, मानों शिक्षा का अर्थ अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के सिवा और कुछ है ही नहीं। मेरे ख्याल से तो ये सब हमारी गुलामी और गिरावट की साफ निशानी हैं।

महात्मा गांधी की दृष्टि में अंग्रेजी के वर्चस्व के कारण आज भारत की ऐसी अवस्था हो गयी है कि वह कबीर की टक्कर के एक भी महान चिंतक को जन्म देने में समर्थ नहीं, जिसने जनसाधरण के मानस पर सदियों तक गहरा और स्थायी प्रभाव डाला। गांधी जी ने तो यहाँ तक कहा था कि कबीर की तुलना में राममोहन राय जैसे आधुनिक विचारक बौने लगते हैं। जिनका प्रभाव शिक्षित समुदाय तक ही सीमित रहा है। गांधी जी का यह कथन उनके जीवन काल में अत्यन्त विवादास्पद रहा था। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गांधी जी के इस कथन पर सार्वजनिक रूप से अपनी असहमति व्यक्त की थी। लेकिन आज यह निर्विवाद है कि गांधी जी के इस कथन पर, कि अंग्रेजी के वर्चस्व ने हमें नक्कालों का देश बना दिया है और हम कबीर जैसे महान व्यक्तित्व को जन्म देने में असमर्थ हैं, समय ने अपनी पक्की मुहर लगायी है।[51]

भाषा की राजनीति व राजनीति की भाषा ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसकी वास्तविक स्थिति से वंचित कर दिया है। हमारी पहली बड़ी से बड़ी समाज सेवा यह होगी कि हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं का उपयोग शुरू करें, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वाभाविक स्थान दें, प्रान्तीय कामकाज प्रान्तीय भाषाओं में करें और राष्ट्रीय कामकाज हिन्दी में करें।[52] ''जिस तरह हमारी आजादी को जबरदस्ती छीनने वाले अंग्रेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया, उसी तरह हमारी संस्कृति को दबाने वाली अंग्रेजी भाषा को भी हमें यहाँ से निकाल बाहर करना चाहिए, हाँ व्यापार और राजनीति की अन्तर-राष्ट्रीय भाषा के नाते समृद्ध अंग्रेजी का अपना स्वाभाविक स्थान हमेशा कायम रहेगा।[53] अंग्रेजी के

वर्चस्व पर तीखी टिप्पणी के बावजूद गांधी जी ने अपने देशवासियों को जो सलाह दी थी उसमें जोर अंग्रेजी के परित्याग पर नहीं, अंग्रेजी के देशहित में उपयोग पर था। यंग इण्डिया में सन् 1921 में लिखे एक लेख में गांधी जी ने जो दृष्टि प्रस्तुत की थी, वह आज भी प्रासंगिक है; ''मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों ओर से प्राचीरों से घिरा हुआ हो और मेरी खिड़कियां बन्द हो। मैं चाहता हूँ कि मेरे घर में सभी देशों की संस्कृतियों का बिना रोक-टोक के प्रवेश हो। लेकिन मैं नहीं चाहता कि कोई भी संस्कृति मुझे अपनी जड़ों से उखाड़ दे। मैं दूसरों के घर में घुसपैठिये, भिखारी या गुलाम की तरह नहीं रहना चाहता। मुझे कोई आपत्ति नहीं कि हमारे नवयुवक और युवतियाँ जितना चाहे अंग्रेजी और विश्व की अन्य भाषाएँ सीखे। लेकिन मैं उनसे उम्मीद करता हूँ कि वे अपने ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ अपने देशवासियों को और विश्व को दे जैसे जगदीश चन्द्र बोस, राममोहन राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था।[54] गांधी जी का यह मंतव्य था कि ''अगर हिन्दी अंग्रेजी की जगह ले ले तो मुझे अवश्य खुशी होगी। लेकिन हम सभी अंग्रेजी के महत्व से अवगत है। अंग्रेजी का ज्ञान हमारे लिए आधुनिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए, आधुनिक साहित्य के अध्ययन के लिए, दुनियाँ को समझने के लिए, शासकों के साथ संवाद स्थापित करने के लिए तथा अन्य उद्देश्यों के लिए बहुत जरूरी है। वर्तमान स्थिति में अंग्रेजी हमें सीखनी ही पड़ेगी। किन्तु यह भी सच है कि अंग्रेजी भले ही एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है किन्तु वह कभी भी हमारी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती।[55]

इस प्रकार गांधी जी का व्यावहारिक आदर्शवाद भाषा की समस्या के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि हम कौन सी भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में चुनें, गांधी की दृष्टि में यह हमारी स्वराज्य की अवधारणा पर निर्भर करेगा। महात्मा गांधी ने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। गांधी जी की प्रेरणा से ही वर्धा और मद्रास में राष्ट्रभाषा प्रचार सभाएं स्थापित हुई, जिनके हजारों प्रचारकों ने इस समय तक हिन्दी प्रदेशों में हजारों लाखों को हिन्दी सिखायी है। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा मद्रास की स्थापना गांधी जी ने ही की थी। इसकी शाखायें केरल, कर्नाटक और आन्ध्रप्रदेश में भी खुलीं। राष्ट्रभाषा

प्रचार समिति वर्धा, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वर्धा, हिन्दी विद्यापीठ बम्बई, गुजरात विद्यापीठ और हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद आदि प्रचार सभाओं ने अपने-अपने प्रदेशों में उल्लेखनीय कार्य किया। इस प्रकार महात्मा गांधी के प्रयत्नों से पूरे देश में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार प्रसार हुआ और भाषा की एकता के साथ गांधी जी ने देश को एक करने में भारी सफलता प्राप्त की। राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रभाषा पर्यायवाची हो गये। 1939 में जब भारत के कई राज्यों में स्वाधीनता आन्दोलन की सूत्रधार संस्था कांग्रेस सत्ता में आई तो मद्रास के तत्कालीन मुख्यमंत्री राजगोपालचारी ने सभी विद्यालयों में हिन्दी शिक्षण को अनिवार्य घोषित कर दिया। गांधी जी ने उस समय अन्य राज्यों को इसका अनुसरण करने की प्रेरणा देते हुए लिखा- ''अगर हमें अखिल भारतीय राष्ट्रीयता प्राप्त करनी है तो प्रान्तीय आवरण को भेदना ही पड़ेगा। सवाल यह है कि हिन्दुस्तान एक देश और राष्ट्र है या अनेक देशों और राष्ट्रों का समूह है। जो लोग यह मानते हैं कि भारत एक देश है तो उन्हें राजाजी का समर्थन करना ही चाहिए।''[56] योगी अरविन्द के कथनानुसार राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता की एक मात्र कड़ी राष्ट्रभाषा हिन्दी बन सकती थी- 'जिस दिन हम अखंड स्वरूप भारत-मूर्ति के दर्शन करेंगे .... उस दिन यह बाधा तिरोहित हो जायेगी, भारत की एकता, स्वाधीनता और उन्नति सहज साध्य होगी, उस दिन भाषा भेद के कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए आधारिक भाषा के रूप में हिन्दी भाषा को ग्रहण करेंगे और वह बाधा दूर हो जायेगी।''[57] वस्तुतः जिस देश के लोग एक भाषा के सूत्र में बंधे रहते हैं उनके भावों और विचारों में एकरूपता रहती है। भाषा की विभिन्नता के कारण राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक एकता में बाधा उत्पन्न होती है। आयरिश कवि डामस डेविस ने कहा है कि कोई राष्ट्र अपनी मातृभाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता। आचार्य केशवचन्द्र सेन ने अपने पत्र 'सुलभ समाचार' में 1873 में लिखा कि यदि भाषा एक न होने पर एकात्मकता नहीं है तो इसमें क्या आश्चर्य है? फिर 'भारतीय एकता कैसे हो' इस विषय पर लिखा 'उपाय यह है कि भारत में एक ही भाषा का व्यवहार हो'। इस समय जितनी भाषाएं प्रचलित हैं उनमें हिन्दी

भाषा सारी जगह प्रचलित है। इस समय हिन्दी भाषा को अगर भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनायी जाय, तो यह कार्य सहज ही और शीघ्र सम्पन्न हो सकता है।'' स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यभाषा हिन्दी को सर्वात्मना देशोन्नति का मुख्य आधार मानते थे। उन्होंने हिन्दी के प्रयोग को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की स्पष्ट मान्यता थी कि कोई भी राष्ट्र बिना अपनी राष्ट्रभाषा के प्रयोग व प्रसार के विकास नहीं कर सकता। उनके शब्दों में- ''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल।[58]

वस्तुत: प्रत्येक समुन्नत, स्वतंत्र, स्वाभिमानी देश की अपनी राष्ट्रभाषा है। इंग्लैड, अमेरिका, फ्रांस, रूस, चीन, जापान, सभी देशों में वहीं की व्यापक, बहुप्रचलित भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। आयरिश कवि टॉमस डेविस ने ठीक ही कहा है कि कोई राष्ट्र अपनी मातृभाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता। मातृभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी ज्यादा जरूरी है, क्योंकि वह विदेशी आक्रमण को रोकने में पर्वतो और नदियों से भी अधिक समर्थ है। जिन देशों की अपनी राष्ट्रभाषा मृतप्राय थी उन देशों ने अपनी मातृभाषा को अथक प्रयत्नों से स्थापित किया, इसके विभिन्न उदाहरण देखे जा सकते हैं। आयरलैंड के पुनर्जागरण के साथ ही गैलिक भाषा को पुनर्जीवित करने का तीव्र प्रयत्न न किया जाता तो वहाँ राजनीतिक चेतना का विकास न हो पाता। वहॉ के अग्रगण्य नेता डी. वैलेरा ने एक सौ वर्ष बूढ़े मोची से गैलिक भाषा सीखी क्योंकि वे कहते थे कि मैं इसके बल पर स्वाधीनता प्राप्त करूँगा। उन्होंने यह कर दिखाया। देखते देखते लुप्तप्राय भाषा सारे देश में फैल गयी और आयरलैंड ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी से आजाद हो गया। इजराइल की हिब्रू भाषा दो हजार वर्ष से न बोलचाल की भाषा रह गयी थी, न शिक्षा की, न शासन की। जब इजराइल स्वतंत्र राष्ट्र बना तो यहूदियों ने अपनी मृतप्राय भाषा को पुनरूज्जीवित किया। वह वहाँ की राजभाषा व राष्ट्रभाषा बनी शिक्षा-विज्ञान सबका माध्यम बनकर प्रतिष्ठित हो गयी। जब अट्ठारह सौ पन्द्रह में जर्मनी स्वतंत्र हुआ था तो विस्मार्क ने आदेश दिया था कि एक वर्ष के भीतर सभी राजकर्मचारी अपना-अपना कार्य जर्मन भाषा में करने लगेंगे, जो नहीं

करेंगे, उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया जायेगा। एक वर्ष में ही जर्मन राजभाषा बन गयी। रूस में भी क्रान्ति के पश्चात जर्मन का प्रयोग हटाकर रूसी भाषा को प्रतिष्ठित कर दिया गया।[59]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अंग्रेजी हमारी पराधीनता की अवशेष है, इसके रहते हमारी बौद्धिक और सांस्कृतिक समृद्धता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। अंग्रेजी पढ़ना बुरा नहीं, किन्तु बुरा यह है कि वह हमारे पत्र व्यवहार, वार्तालाप और विचार विनिमय का माध्यम हो। हिन्दी भारत की सांस्कृतिक भाषा है, हमारी राष्ट्रीय चेतना की भाषा है, यदि सभी भारतीय इसका व्यवहार नहीं करेंगे तो बेबल का मीनार बनाने वालों की सी दुर्दशा हमारी भी होगी।[60] राष्ट्रीय भाषा से ही राष्ट्रीय भावना दृढ़ होगी तथा भारत के स्वराज्य की वास्तविक परिकल्पना साकार हो सकेगी। इस सन्दर्भ गांधी के सपनों को साकार करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है और आज एक बहुत बड़ी चुनौती के रूप में हमारे सामने उपस्थित है।

इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि गांधी जी के लिए मानव स्वतंत्रता की अवधारणा सामाजिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता से पहले है और सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्षों में भाग लेने का अधिकारी वही है जिसने कि वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्राप्त कर लिया है। दूसरे, प्रत्येक मनुष्य की स्वतंत्रता अपनी आन्तरिक मूल वृत्ति के अनुसार कार्य करने में निहित है और वाह्य रूप से उस समाज के साथ असहयोग में निहित है जो कि स्वधर्म के विरोध में कार्य कर रही है।[61] स्वधर्म ही समाज में सभी मनुष्यों की मूलवृत्ति का योग है। तीसरे, गांधी के लिए स्वतंत्रता सचेतन, स्वनियंत्रण व आंतरिक शुद्धता है, केवल कुछ अधिकारों की प्राप्ति या वाह्य मुक्ति नहीं। चौथे, व्यक्ति की स्वतंत्रता और समाज की स्वतंत्रता में कोई विरोध नहीं है। वैयक्तिक मोक्ष और सामाजिक मुक्ति एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यदि एक व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़ता है तो उसके साथ सारा संसार ऊँचा उठता है, यदि एक व्यक्ति गिरता है तो उस सीमा तक सारा संसार उसके साथ गिरता है।[62] इस प्रकार गांधी जी के दर्शन में स्वतंत्रता संपूर्ण रूप में है जहाँ राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ विदेशी शासकों व शोषकों से मुक्ति, नैतिक

स्वतंत्रता का अर्थ संवेगों की दासता से मुक्ति और आध्यात्मिक स्वतंत्रता का अर्थ आत्मा की मुक्ति से है। ऐसी आध्यात्मिक वैयक्तिक स्वतंत्रता ही सभी स्वतंत्रता का मूल है।

गांधी जी ने स्वराज्य प्राप्ति के साधन का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार किसी राष्ट्रीय समाज के स्वराज्य का अर्थ उस समाज के विभिन्न व्यक्तियों के स्वराज्य (आत्मशासन) का योग है। और ऐसा स्वराज्य व्यक्तियों द्वारा नागरिकों के रूप में अपने कर्तव्य के पालन से ही आता है। इसके अन्तर्गत कोई अपने अधिकारों की बात नहीं सोचता, जब उनकी आवश्यकता होती है तब उन्हें अपने आप मिल जाते है और इसलिए मिलते है कि वे अपने कर्तव्य का सम्पादन ज्यादा अच्छी तरह कर सके।[63] गांधी ने स्वराज्य प्राप्ति से महत्वपूर्ण उसकी अभिरक्षा को माना है। क्योंकि स्वराज्य का संरक्षण तभी सम्भव है जबकि किसी देश के नागरिक देशभक्त, कर्तव्यपरायण, सद्चरित्र, नैतिक, परमार्थी, सतत् जागरूक, सत्य व अहिंसा का परिपालन करने वाले हो। उनके अनुसार– ''स्वराज्य की रक्षा केवल वही हो सकती है, जहाँ देशवासियों की ज्यादा बड़ी संख्या ऐसे देशभक्तों की हो, जिनके लिए दूसरी सब चीजों से अपने निजी लाभ से भी देश की भलाई का ज्यादा महत्व हो। स्वराज्य का अर्थ देश की बहुसंख्यक जनता का शासन। जाहिर है कि जहाँ बहुसंख्यक जनता नीतिभ्रष्ट हो या स्वार्थी हो, वहाँ उसकी सरकार अराजकता की ही स्थिति पैदा कर सकती है, दूसरा कुछ नहीं।''[64] ''आखिर स्वराज्य निर्भर करता है हमारी आन्तरिक शक्ति पर, बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से जूझने की हमारी ताकत पर। सच पूछें तो वह स्वराज्य जिसे पाने के लिए अनवरत प्रयत्न और सुरक्षित रखने के लिए सतत् जागृति नहीं चाहिए, स्वराज्य कहलाने के लायक ही नहीं है।[65] वस्तुतः अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसीलिए नागरिकता के अधिकार सिर्फ उन्हीं को मिल सकते जो जिस राज्य में रहते हैं उसकी सेवा करते हों।[66] गांधी ने सत्य और अहिंसा को स्वराज्य प्राप्ति का साधन, संरक्षण व संचालन का एकमात्र उपाय स्वीकार किया। उनके शब्दों में मेरी कल्पना का

स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही प्राप्त करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता है। कारण स्पष्ट और सीधा है वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रकट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है।[67] स्त्री-पुरूषों के विशाल समूह का राजनीतिक स्वराज्य एक एक शख्स से अलग-अलग स्वराज्य से कोई ज्यादा बड़ी चीज नहीं और इसलिए उसे पाने का तरीका वही है जो एक-एक आदमी के आत्म स्वराज्य या आत्मसंयम का है।[68] स्वतंत्रता की अवधारणा चूँकि मनुष्य के स्वभाव का अभिन्न अंग है। इसलिए वह प्रदत्त अधिकार नहीं बल्कि इसका दावा केवल आत्मचेतना के आधार पर किया जा सकता है, आत्मप्रयास के द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है तथा आत्मत्याग द्वारा ही इसका संरक्षण सम्भव है।

गांधी के अतिरिक्त भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के समय विभिन्न विचारकों और चिंतकों ने स्वराज्य के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त किये। इनमें से कुछ ने तो राजनीतिक स्वतन्त्रता के पर्याय के रूप में ही स्वराज्य को परिभाषित व व्याख्यायित किया। किन्तु कुछ अन्य विचारकों ने इसे व्यापक आयाम में ग्रहण कर इसकी व्याख्या की। सभी विचारको के मतो को यहॉ प्रस्तुत कर पाना न तो सम्भव है और न ही समीचीन। अतएव मुख्यत: स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर, बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, डा0 भगवान दास, आचार्य विनोबा एवम् दादा धर्माधिकारी तथा प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के मतों का संक्षेप में विवेचन आगे किया जा रहा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती- दयानन्द पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नही थे। उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी क्रमबद्ध ग्रन्थ की रचना नही की है। किन्तु उनके "सत्यार्थ प्रकाश" तथा "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" दोनों ही प्रसिद्ध ग्रन्थों में एक-एक अध्याय ऐसा है जिसमें राजनीतिक विचारों की मीमांसा की

गयी है। दयानन्द ने वैदिक स्वराज्य का गुणगान किया। उन्होने स्वराज्य के वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित किया। वेदों में स्वराज्य की जो धारणा मिलती है उसका अभिप्राय है शान्ति, समृद्धि, स्वतन्त्रता तथा प्रचुरता का साम्राज्य। ऐसा स्वराज्य पारस्परिक सहयोग तथा अवयवी एकता की भावना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। स्वराज्य के सिद्धान्त की शिक्षा देकर दयानन्द ने भावी स्वतन्त्रता की नींव तैयार कर दी। उन्होने देश की जनता को एक ऐसा आदर्श प्रदान किया जिसके चतुर्दिक वे अपने को संगठित कर सकते थे तथा जिसके साक्षात्कार के लिए वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को जुटा सकते थे। दयानन्द उन्नीसवी शताव्दी के इस प्रसिद्ध नारे के प्रतिष्ठापक थे- 'सुशासन चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वशासन का स्थान नही ले सकता।'[69] उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के छठे समुल्लास में लिखा है, विदेशी शासन जनता को पूर्णरूप से सुखी कभी नही बना सकता, चाहे वह धार्मिक दुर्भाव से मुक्त हो, देशवासियों तथा विदेशियों के साथ पक्षपात रहित हो और दयालु कल्याणकारी तथा न्यायशील हो।' इन्होने अप्रत्यक्ष रूप से भारत की राजनीतिक, आर्थिक मुक्ति के शक्तिशाली आन्दोलन के लिए भूमिका तैयार कर दी। यही कारण था कि श्रद्धानन्द, लाजपतराय और श्यामजी कृष्ण वर्मा सरीखे उनके शिष्य अपने आपको देश की बलिवेदी पर अर्पित करके शहीद बन गये।[70] वस्तुत: दयानन्द पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने लिखा कि भारत भारतीयों के लिए है।[71] तिलक ने दयानन्द को स्वराज्य का प्रथम संदेशवाहक बताया है।[72]

स्वामी विवेकानन्द- स्वामी विवेकानन्द का स्वतन्त्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उनके अनुसार सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्यत: स्वतन्त्रता की ही खोज कर रहा है।[73] वे स्वतंत्रता के प्रकाश को वृद्धि की एकमात्र शर्त मानते थे।[74] उनके शब्दो में 'शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरों को उसकी ओर अग्रसर होने में सहायता देना मनुष्य का सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो सामाजिक नियम इस स्वतन्त्रता के विकास में बाधा डालते है वे हानिकारक है, और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाय जिनके द्वारा मनुष्य स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ता है।[75] विवेकानन्द आध्यात्मिक स्वतन्त्रता या माया

के बन्धनों और प्रलोभनों से मुक्ति के ही समर्थक नहीं थे, बल्कि वे मनुष्य के लिए भौतिक अथवा वाह्य स्वतन्त्रता भी चाहते थे। वे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को मानते थे। प्राकृतिक अधिकार का अर्थ यह है कि हमें अपने शरीर, बुद्धि और धन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने दिया जाय और हम दूसरो को कोइे हानि न पहुँचायें, और समाज के सभी सदस्यो को धन, शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार हो।[76] विवेकानन्द के मतानुसार स्वतन्त्रता उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त था, उपनिषदकारों ने शारीरिक, मानसिक एवम् आध्यात्मिक आदि स्वतन्त्रता के सभी पक्षों का जोरदार समर्थन किया था।

स्वामी विवेकानन्द ने यद्यपि प्रधानत: आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की धारणा का ही सन्देश दिया, किन्तु उनके इस सन्देश का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक आदि अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता के विचार भी लोकप्रिय हुए।[77] सुभाषचन्द्र बोस विवेकानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरू मानते थे।[78] बंगाल के अनेक क्रान्तिकारियों तथा राष्ट्रवादियों ने उनके "संयासी का गीत"[79] शीर्षक कविता से स्वतन्त्रता के मूल्य तथा पवित्रता का पाठ सीखा। इस निम्नलिखित कविता में विवेकानन्द ने उन्मुक्त स्वर में स्वतन्त्रता का गुणगान किया है :

'अपनी बेड़ियों को तोड़ डाल, उन बेड़ियों को जिन्होने तुझे बाँधकर रखा है।
वे दीप्तिमान सोने की हों, अथवा काली निम्नकोटि की धातु की,
प्रेम, घृणा, शुभ, अशुभ-द्वैधता के सभी जंजालों को तोड़ डाल।
तू कहाँ ढूढ़ रहा है? तूझे वह स्वतन्त्रता न यह लोक दे सकता है और न वह।
व्यर्थ में तू ढूढ़ रहा है ग्रन्थों और मन्दिरों में।

तेरा अपना ही तो हाथ है जो उस रज्जु को पकड़े हुए है जो तुझे घसीट रहा है।'

स्वामी जी ने राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय की बात करने की अपेक्षा उससे भी अधिक बुनियादी आदर्श शक्ति व निर्भयता का सन्देश दिया। बिना शक्ति के न हम अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को कायम रख सकते है और न अपने अधिकारों की रक्षा करने में ही समर्थ हो सकते है। कोई व्यक्ति सतत् प्रयत्न और निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा ही जीवन के संघर्ष में सफलता प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य का चरित्र बाधाओं का प्रतिरोध करने से ही विकसित होता है। विवेकानन्द ने निर्भयता के सिद्धान्त को वेदान्त दर्शन के आधार पर उचित ठहराया। उन्होने बार-बार इस बात को दुहराया कि आत्मा ही परम सत् है और इसलिए वह सभी प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों और क्रूरता से परे है। उनकी दुर्दमनीय आत्मा को मनुष्य की आत्मा पर थोपे गये सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से घृणा थी इसलिए वे भारतीय जनता को आत्मा के अपार बल और शक्ति की शिक्षा देना चाहते थे। वस्तुतः आत्मबल के आधार पर निर्भय होकर खड़ा होना अत्याचार तथा उत्पीड़न के प्रतिरोध का सर्वोत्तम प्रकार है।

अरविन्द घोष– महर्षि अरविन्द के अनुसार, 'स्वराज की मांग राष्ट्रवाद का स्वाभाविक अंग है, क्योकि कोई भी राष्ट्र विदेशी सत्ता के आधिपत्य में रहकर अपने विलक्षण व्यक्तित्व और स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता। उन्होने कहा कि अंग्रेजी संस्कृति भौतिकवाद से प्रेरित है, भारतीय संस्कृति को आध्यात्मवाद में अगाध आस्था है। इनके अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य केवल औपनिवेशिक शासन की जगह स्वशासन स्थापित करना नहीं था, इस राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना- राजनीतिक कार्यक्रम इसका एक हिस्सा- था। इसका परम लक्ष्य आध्यात्मिकता का साक्षात्कार था, क्योंकि वही भारत को फिर से एक महान् और स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता था। भारत अपनी आध्यात्मिक चेतना के बल पर सम्पूर्ण मानवता को मुक्ति का मार्ग दिखा सकता है, और यह उसका कर्तव्य भी है। अरविन्द के अनुसार "हम स्वराज्य द्वारा अपने राष्ट्रीय जीवन की परिणति व पूर्णता चाहते है स्वराज्य औपनिवेशिक शासन प्रणाली नहीं है बल्कि हमारी राष्ट्रीयता की पूर्णाहुति है।[80] अरविन्द आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के आदर्श को स्वीकार करते है। मनुष्य प्रकृति की यान्त्रिक आवश्यकताओं से तभी मुक्ति पा सकता है जब वह अपने को मनसातीत आध्यात्मिक शक्ति का अभिकर्ता मात्र मानकर कार्य करने लगे। अरविन्द और टैगोर दोनो लोगो का ही विश्वास था कि यदि मनुष्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है तो उसे सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता स्वतः उपलब्ध हो जाती है।[81]

रवीन्द्रनाथ टैगोर– विवेकानन्द तथा अरविन्द की भांति टैगोर भी स्वतन्त्रता के आध्यात्मिक सिद्धान्त को मानते थें। उन्हें मानव आत्मा की स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता से प्रेम था। उनके अनुसार आत्म साक्षात्कार के द्वारा आत्मा को प्रदीप्त करना ही स्वतन्त्रता का सार है।[82] वास्तव में सार्वभौमता की प्राप्ति ही स्वन्तत्रता है। इसलिए प्रेम स्वतन्त्रता तक पहुँचने का सही मार्ग है। यांत्रिक रूढ़ियों और सामाजिक संकीर्ण पंथों के कुप्रभाव का शमन करने की एकमात्र औषधि स्वतन्त्रता है। केवल वही मृत्यु, लज्जा और बन्धनों के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति प्रदान कर सकती है।[83] "सत्य का आह्वान" शीर्षक कविता में टैगोर ने लिखा है, कि 'जो अपने भीतर स्वराज्य प्राप्त करने में सफल नहीं हुए है वे उसे बाहरी जगत में खों बैठेगें।[84] अत: उन्होने धर्म, संघ, राज्य आदि उन सब संगठित संस्थाओं के दावों के विरूद्ध विद्रोह किया जो व्यक्ति की शक्तियों को कुचल देती है। राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह व्यक्ति के हितों की रक्षा करे, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है। इस प्रकार टैगोर ने बाध्यता तथा बाह्य आधिपत्य के विरूद्ध मानव आत्मा की नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को पवित्र माना। स्वतंत्रता और स्वत:ता के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के नाते टैगोर ने चिन्तन और कर्म की स्वतन्त्रता तथा अन्त:करण की स्वतन्त्रता का समर्थन किया।[85] टैगोर ने प्रेम को स्वतन्त्रता तक पहुंचने का उचित मार्ग बताया सहानुभूतिपूर्ण सहयोग, करूणा तथा विश्वास मूलक मेल मिलाप से मनुष्य की शक्तियों का विकास होता है और उसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता का वरदान उपलब्ध होता है। अहंकार का जीवन पृथकता तथा नीरसता का जीवन है, उसे निश्चय ही स्वतन्त्रता का जीवन नहीं कहा जा सकता। सहानुभूति तथा साझेदारी की भावना से ही आध्यात्मिक एकता की अन्तर्निहित शक्तियों का प्रस्फुटन होता है। स्वतन्त्रता की उपलब्धि के दो ही साधन हैं, सब प्राणियों की व्यापक अन्तर्निर्भरता को समझ लेना और परमात्मा की शाश्वत सृजनात्मकता का निष्काम भाव से साक्षात्कार कर लेना। 'गीतांजलि' में टैगोर ने स्वराज्य की आदर्श अवस्था का विस्तृत उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है–

'जहाँ मन में निर्भयता है और मस्तक ऊँचा है;
जहाँ ज्ञान पर प्रतिबन्ध नहीं है;

जहां संसार संकीर्ण घरेलू दीवारों से विभक्त होकर खण्ड खण्ड नहीं हुआ है;
जहाँ शब्दों का निःस्सरण केवल सत्य के गहरे स्रोत से होता है,
जहां अथक उद्यम पूर्णता के आलिंगन के लिए भुजाएं पसारता है;
जहां बुद्धि की निर्मल जलधारा निर्जीव अभ्यास के सूखे मरूस्थल की सिकता में लुप्त नहीं हो गयी है;
जहां तुम मन को निरन्तर विस्तीर्ण होने वाले चिन्तन और कर्म की ओर प्रेरित करते हों;

हे परमपिता! उस स्वतन्त्रता के दिव्यलोक में मेरा देश जाग्रत हो।[86]

वस्तुतः टैगोर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साथ भारत के राजनीतिक स्वतन्त्रता के अधिकारों के भी समर्थक थे। उन्होने इस बात को बड़ी तीक्ष्णता के साथ व्यक्त किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में जनता का नैतिक बल क्षीण होता है और आत्मा संकुचित हो जाती है। केवल आत्मनिर्णय मानवता के अधिकारों की रक्षा कर सकता है। अतः टैगोर ने भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। किन्तु साथ ही टैगोर ने इस बात पर भी बल दिया कि भारतीयों को पहले अपना आन्तरिक सुधार करना चाहिए, तभी उनकी मांगों का विदेशी प्रभुओं पर कोई प्रभाव पड़ सकता है। क्योंकि जो देश और जनता अपने घर में कुछ निकृष्टतम प्रकार के सामाजिक अन्याय और अत्याचार करते है, उनके पास अन्तःकरण नही हो सकता।[87] इस प्रकार स्पष्ट है कि टैगोर की स्वतन्त्रता विषयक अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत आन्तरिक और वाह्य दोनो प्रकार की स्वतंत्रता का समावेश है। टैगोर ने जिस व्यापक अर्थ में स्वराज्य का प्रतिपादन किया है उस अर्थ में प्रत्येक मानव और प्रत्येक देश के लिए वह आज भी परम साध्य है।

वालगंगाधर तिलक– तिलक स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। उन्होंने स्वराज्य का राजनीतिक, नैतिक व आध्यात्मिक तीनों ही अर्थ प्रतिपादित किया। राजनीतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रीय स्वशासन है। नैतिक दृष्टि से इसका अर्थ आत्मनिग्रह की पूर्णता प्राप्त करना है, जो स्वधर्म के पालन के लिए अत्यावश्यक है। इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से इसका अर्थ है आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतंत्रता और ध्यानजन्य आनन्द की प्राप्ति है। स्वराज्य का आध्यात्मिक अर्थ तिलक ने इन शब्दों में व्यक्त किया: अपने में केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही

स्वराज्य है। स्वराज्य परलोक में है और इस लोक में भी है। मेरी स्थापना है कि जिन लोगों ने इस संसार में स्वराज्य का उपभोग नहीं किया है वे परलोक में भी स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते।[88] इसी कारण तिलक राजनीतिक व आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की स्वतंत्रता चाहते थे। तिलक की स्वराज्य की अवधारणा में देशभक्ति के साथ विश्व भक्ति भी समाहित थी। 'गीता-रहस्य' में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि देशभक्ति विश्वभक्ति के मार्ग में केवल एक कदम है। उन्होंने प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक के उस अंश (उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्) को भी उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि उदार चित्त वाले व्यक्तियों के लिए सारा विश्व ही परिवार है।[89] तिलक की स्वतंत्रता विषयक अवधारणा आत्मा की परम स्वतंत्रता के वेदान्ती आदर्श और मत्सीनी, बर्क, मिल और विल्सन की पाश्चात्य धारणा का समन्वय था। इस समन्वय को उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द के द्वारा व्यक्त किया।[90]

तिलक के स्वराज्य की अवधारणा को सामान्यतः भारत से ब्रिटिश शासन की समाप्ति व भारत के समस्त विषयों का निर्णय करने का भारतीयों को अधिकार दिये जाने की आकांक्षा के रूप में समझ लिया जाता है। किन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर वैदेशिक शासन का उन्मूलन मात्र ही नहीं अपितु सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक इत्यादि समस्त प्रश्नों के निर्धारण में जनता की सक्रिय व सार्थक भागीदारी, शासन का जनहित के प्रति समर्पण एवं राज्यशक्ति पर जागृत जनशक्ति का प्रभावी नियंत्रण उनकी स्वराज्य की धारणा के मूल प्रयोजनों को स्पष्ट करता है। उनका मानना था कि जनकल्याण, न्याय व समानता स्वराज्य के लिए अनिवार्य है। उनके अनुसार "स्वराज्य समस्त सामाजिक व्यवस्था का आधार व राष्ट्रीय प्रगति का मूल तत्व है। स्वराज्य के अभाव में कोई औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय शिक्षा व सामाजिक सुधार नहीं हो सकता।"[91] जहाँ एक तरफ रानाडे का विचार था कि सामाजिक सुधारों के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति असम्भव है वहीं दूसरी तरफ लोकमान्य तिलक ऐसा मानते थे कि राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद ही उपयुक्त परिस्थिति में सामाजिक सुधार हो सकेगा। जबकि गान्धी जी राजनीतिक स्वतंत्रता और रचनात्मक तथा सामाजिक कार्यक्रम इन दोनों को साथ-साथ लेकर चलते थे।

स्वराज्य प्राप्ति के साधन के सन्दर्भ में तिलक ने निरपेक्ष अहिंसा का कभी समर्थन नहीं किया।[92] तिलक के अनुसार इस अपूर्ण जगत में ऐसे अवसर आते है जब मनुष्य को अहिंसा और विनम्रता के सिद्धान्त से विचलित होना पड़ता है। जहाँ गांधी जी का विश्वास था कि अहिंसा का सिद्धान्त सार्वभौम तथा अपरिवर्तनशील है वहीं तिलक के अनुसार अहिंसा अधिक से अधिक नीति के रूप में अंगीकर की जा सकती है। 1920 में उन्होंने 'यंग इण्डिया' में एक पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि मेरा अभिप्राय यह कभी नहीं है कि राजनीतिक में सब कुछ न्यायोचित है, यद्यपि मेरा विश्वास है कि 'धम्मपद' में प्रतिपादित बुद्ध के इस सिद्धान्त को कि घृणा को प्रेम द्वारा जीतना चाहिए सर्वत्र व्यवहृत नहीं किया जा सकता। वे सदैव कहा करते थे कि किसी कार्य की नैतिकता उसके वाह्‌य परिणाम से नहीं ऑकी जानी चाहिए, बल्कि यह देखना चाहिए कि कर्ता का उद्देश्य और मन्तव्य क्या है? दार्शनिक के रूप में तिलक ने संकल्पों की शुद्धता को सर्वाधिक महत्व दिया और बतलाया कि वाह्‌य आचरण नैतिकता की कसौटी कभी नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार स्वराज्य की प्राप्ति कर्मयोग का ही एक अंग है। एक बार उन्होंने कहा था, "भीख मांगने से लेकर खुले विद्रोह तक जो भी उपाय तुम्हें अपनी सामर्थ्य के अनुकूल जान पड़े उसे चुन त्यों और उसी को करो, किन्तु याद रखो कि स्वधर्म सर्वोपरि है।"[93] उन्होंने स्वीकार किया कि गीता में धर्मानुकूल हिंसा का उपदेश दिया गया है, शर्त यह है कि हिंसा लोकसंग्रह के लिए की गयी है और अंहकार की भावना से सर्वथा शून्य हो।

विपिनचन्द्र पाल– पाल के अनुसार मनुष्य की आत्मा स्वभावत: स्वतंत्र है। स्वतंत्रता ही आत्मा की शक्ति है जो मनुष्य की चेतना के माध्यम से प्रवाहित होती है। जब 'माया' इस प्रवाह में बाधा डालती है तब अपनी आत्मा की शक्तियों से मनुष्य का सम्पर्क टूट जाता है और मनुष्य पराधीन हो जाता है। मनुष्य को अपनी आत्मा से सीधा संवाद स्थापित करने के लिए 'माता' का ध्यान करना चाहिए जो शक्ति का साक्षात् रूप है। माता की आराधना स्वराज्य का मूल मंत्र है। सांसारिक जीवन में राष्ट्र ही 'माता' के तुल्य है जो भारत माता के रूप में सार्थक होता है। अत: जब कोई भारतवासी 'भारत माता' की मुक्ति के लिए संघर्ष करता है तो

वह स्वराज्य की साधना करता है। पाल ने सुझाव दिया कि भारत के राष्ट्रवादियों को स्वराज्य की साधना के लिए ब्रिटिश शासनरूपी 'माया' की अवहे्लना करते हुए 'भारत माता' से सीधा संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका एक मात्र सुलभ साधन 'स्वदेशी' है। स्वदेशी आन्दोलन के तीन पक्ष हैं : वायकाट या बहिष्कार जो इसका आर्थिक पक्ष है, दूसरा, राष्ट्रीय शिक्षा इसका शैक्षिक पक्ष है; और तीसरा निष्क्रिय प्रतिरोध इसका राजनीतिक पक्ष है। स्वदेशी आन्दोलन न केवल ब्रिटिश शासन का अंत कर देगा वरन् देश को धन-धान्य, देशभक्ति और प्रगति से भर परिपूर्ण कर देगा। विपिनचन्द्रपाल ने स्वराज्य की अवधारणा को पवित्र एवं ईश्वरीय बताते हुए कहा कि स्वराज्य का आदर्श स्वयं में ईश्वरीय लोकतन्त्र का आदर्श है[94]

डा0 भगवानदास– भगवानदास ने भारत के लिए 'आध्यात्मिक राजनीतिक स्वराज्य' की योजना तैयार की। भगवानदास के अनुसार स्व अर्थात उच्च आत्मा के द्वारा समाज का शासन ही स्वराज्य है। इसका अभिप्राय हुआ "सर्वोत्तम सर्वाधिक बुद्धिमान और सर्वाधिक परोपकारी व्यक्तियों" का शासन।[95] उच्चत्तर आत्मा उन जीवों में निवास करती है जो अन्य प्राणियों के साथ एकात्म्य का अनुभव करते हैं और जो त्यागी, बुद्धिमान परोपकारी तथा अनुभवी है। इसी सरल तथ्य में मनुष्य की सभी समस्याओं की कुंजी निहित है। यदि उच्चतर आत्मा परिवार के विषय में सोचने लगे तो गृहस्थ जीवन सुखी होगा। यदि वह आर्थिक क्षेत्र पर शासन करने लगे तो आवश्यकता और आराम की वस्तुओं का वितरण न्यायसंगत होगा, क्योंकि धन का संग्रह स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नहीं बल्कि अपने को न्यासधारी मानने वाले स्वामियों के माध्यम से सार्वजनिक कल्याण के लिए किया जायेगा। यदि वह राजनीति का नियमन करने लगे तो कोई भी व्यक्ति पार्टी क़े लिए कार्य न करेगा, सभी राज्य की सेवा करेंगे, क्योंकि सभी मामलों का प्रबन्ध-न्यायोचित, सच्चा, उदार तथा सम्यक् हितों का संवर्धन और संरक्षण करने वाला होगा। ऐसी स्थिति में पार्टियों की आवश्यकता ही न रहेगी और न परस्पर झगड़ने वाले धार्मिक पंथों अथवा आपस में टकराने वाले आर्थिक हितों के आधार पर पार्टियां बनेगी। डा. भगवानदास का मन्तव्य है कि जहाँ कहीं उच्चतर आत्मा बुद्धिमान, स्वार्थहीन,

परोपकारी, विश्वसित, जनता के चुने हुए तथा निर्वाचित और जनता के श्रेष्ठतम गुणों का प्रतिनिधत्व करने वाले पुरुषों और स्त्रियों में पिण्डभूत उच्चतर आत्मा राज्य करती है, शासन करती है, कानून बनाती है, पथप्रदर्शन करती है, वहीं ईश्वर का राज्य है, क्योंकि वहीं धर्म का राज्य, शासन और प्रभाव है। मनुष्य जाति की समूहिक तथा वैयक्तिक बुद्धि में स्वराज्य (जनता के उच्चतर स्व. का राज) का यह अर्थ बैठा देना, स्त्रियों, पुरूषों युवकों तथा वृद्धों सबके ह्रदयों को इस महान सत्य से भर देना- स्वराज्य को प्राप्त करने और फिर उसका संरक्षण करने का यही एक तरीका है।[96]

आचार्य विनोबा भावे- विनोबा 'राज्य शक्ति' और 'राज्य सत्ता' के स्थान पर 'लोकशक्ति' तथा 'लोकसत्ता' के कायल है। वे राज्य के स्थान पर स्वराज्य की स्थापना करना चाहते हैं।[97] वे राजनीति को समाप्त करना चाहते है जिसकी बुनियाद हिंसा है तथा जिसमें दलीय और सत्ता की राजनीति को सुरक्षित रखने के लिए सेवा, दंडनीति और कर का विधान किया जाता है।[98] वे शासन के स्थान पर 'आत्मशासन' चाहते हैं जो स्वराज्य की अवस्था है तथा जिसमें न किसी की सत्ता हम पर चलती है और न हम किसी पर अपनी सत्ता चलाते है।[99] परन्तु जब तक राज्य संस्था की आवश्यकता है, तब तक के लिए विनोबा भौतिक शक्तियों की सत्ता समाज और राज्य को देना चाहते है। राज्य और उससे भी बड़ी केन्द्रीय सत्ताओं के ऊपर नैतिक सार्वभौमिकता प्रदान करना चाहते है।[100] विनोबा का विचार है कि वास्तविक प्रजातन्त्र तभी स्थापित होगा, जबकि सम्पूर्ण प्रशासन ग्राम स्तर से लेकर ऊपर तक- जनता के अपने हाथों में होगा और उन्हें अपने कार्यों के लिए प्रतिनिधियों की कम से कम आवश्यकता पड़ेगी। उनका 'ग्राम स्वराज्य' का विचार वास्तविक प्रजातंत्र का आधार स्थल है। विनोबा के अमुसार, प्रत्येक ग्राम को स्वानुशासित, स्वसंचालित एवं सब प्रकार से आत्मनिर्भर होना चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है और तभी सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना की जा सकती है।[101] विनोबा ने अहिंसक राज्य के संगठन को साकार बनाने के लिए तथा वास्तव में ग्राम स्वराज्य और पंचायती राज्य की स्थापना करने के लिए भूदान, ग्रामदान, प्रखण्डदान, जिलादान, राज्यदान आदि धारणाओं का विकास किया है तथा इनके लिए व्यापक रूप से आन्दोलन चलाया है, जो 'सर्वोदय आन्दोलन' के नाम से प्रसिद्ध है।

विनोबा के अनुसार वर्तमान युग की समस्या का समाधान राजनीति से नहीं, लोकनीति से ही सम्भव है। विज्ञान के चमत्कार के कारण सभी राष्ट्र एक हो गये हैं। उनकी दूरी बहुत कम हो गयी है। अत: अब विश्वव्यापक राजनीति की आवश्यकता है जिसे लोकनीति कहते है। हम ऐसी व्यापक-विशाल राजनीति को लोकनीति कहते हैं, जिसमें सारा विश्व एक है, हम सब उसके नागरिक हैं, जिसमें किसी का किसी पर अनुशासन नहीं चलता, हर मनुष्य का अपने पर अनुशासन चलता है।[102] विनोवा के अनुसार जहाँ लोकनीति चलती है, वहॉ गाँव-गाँव में सत्ता का विभाजन कर दिया जाता है।[103] आज के कल्याणकारी राज्य की कामना नहीं की जाती जो जनता के लिए सब कुछ कर दे। अत: विनोबा कहते है कि 'वेलफेयर स्टेट इज दि इलफेयर स्टेट।'[104] विनोवा का विचार है कि लोकनीति का मुख्य पक्ष केवल समाज रचना ही नहीं है, इसका दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष लोकसेवा की भावना है जिसका आधार प्रेम है।[105] विनोवा के अनुसार लोकनीति समाज परिवर्तन की एक पद्धति भी है जिसमें विचार परिवर्तन और हृदय परिवर्तन का विचार समाहित है। इस प्रकार व्यापक रूप से 'लोकनीति' के द्वारा सेवा और स्वावलम्बन की जीवन पद्धति, शासनमुक्त समाज रचना और सेवा तथा मूल्य-परिवर्तन के द्वारा समाज परिवर्तन का बोध होता है।

विनोबा के अनुसार लोकनीति ही वास्तविक स्वराज्य और वास्तविक जनतंत्र का लक्षण है परन्तु इसका विकास विशेष अभिक्रम में होता है।[106] विनोबा के अनुसार इसकी पहली आवश्यकता है केन्द्रीय स्वराज्य की प्राप्ति। उसके वाद विभाजित राज्य अर्थात् ग्राम-राज्य की स्थापना का विचार आता है। यहाँ बहुत ही कम मात्रा में शासन की जरूरत रहती है, परन्तु जब नागरिक पूर्णत: शुद्ध हो जाते हैं, समाज में किसी प्रकार का कलह या द्वेष नहीं रहता, सभी अपने-अपने नैतिक विवेक से स्वाभाविक रूप से काम करने लगते हैं, तब राज्य से मुक्ति मिल जाती है अर्थात् रामराज्य की स्थापना हो जाती है। जिसमें किसी प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं रहती, पूरा कार्य लोकनीति से चलता है और यह लोकनीति की पूर्ण अवस्था होती है। दादा धर्माधिकारी ने 'सर्वोदय दर्शन' पुस्तक में राजनीति और लोकनीति में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'राजनीति' में प्रशासन बहुत महत्वपूर्ण

है; 'लोकनीति' में अनुशासन मुख्य है। 'राजनीति' में सत्ता मुख्य है 'लोकनीति' में स्वतंत्रता मुख्य है। 'राजनीति' में नियंत्रण मुख्य है, 'लोकनीति' में संयम मुख्य है। 'राजनीति' में सत्ता की स्पर्धा यानि अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है, 'लोकनीति' में कर्तव्यों का आचरण मुख्य है। 'राजनीति' में प्रतिनिधियों की भूमिका महत्वपूर्ण है, 'लोकनीति' में नागरिको की भूमिका निर्णायक होती है।[107] स्पष्ट है कि आचार्य विनोबा व दादा धर्माधिकारी की दृष्टि में लोकनीति' के द्वारा ही सच्चे प्रजातंत्र अर्थात स्वराज्य की स्थापना की जा सकती है। लोकनीति को व्यवहारिक स्वरूप देने के लिए यह आवश्यक है कि लोग अपनी आन्तरिक शक्ति को पहचानकर अपने व्यवहार को सत्य और अहिंसा के अनुरुप ढाले।

प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य- दार्शनिक के.सी. भट्टाचार्य ने 1929 में स्वराज्य के महत्वपूर्ण पहलू 'स्वराज्य इन आइडियाज' की अवधारणा का प्रतिपादन किया। इण्डियन फिलासफिकल, क्वाटर्ली (आई.पी.क्यू.) का अक्टूबर-दिसम्बर अंक 1984 'स्वराज्य इन आइडियाज' 'विचारों में स्वराज्य' को समर्पित है। इसमें केन्द्रीय लेख प्रो. के.सी. भट्टाचार्य का है जिसमें उनके स्वराज्य सम्बन्धी विचारों का उल्लेख मिलता है। यह लेख अन्तर्दृष्टिसम्पन्न है। यह लेख विवश करता है कि हम जिसे नवजागरण का दौर कहते है उसकी फिर से पड़ताल करे, उसकी कमियों को जाँचे-परखें और उन्हें दूर करने का उपाय सोचें।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्वराज्य का आशय आत्म-निर्णय से लगाते हैं और इसके दो रूपों की चर्चा करते हैं- 'राजनीति में स्वराज्य' और 'विचारों में स्वराज्य'। स्वराज्य का विपरीतार्थक शब्द पराधीनता है। राजनीतिक पराधीनता भट्टाचार्य के अनुसार मनुष्य का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य है। राजनीतिक अधीनता वस्तुत: उतनी गंभीर और दूरगामी नहीं होती जितनी कि वैचारिक या सांस्कृतिक अधीनता। "सांस्कृतिक पराधीनता एक प्रच्छन्न प्रभुत्व-स्थापन है जो विचारों के क्षेत्र में एक संस्कृति द्वारा दूसरे पर किया जाता।"[108] सांस्कृतिक अधीनता बेहद चिंताजनक बिन्दु है। अपनी परिणतियों में यह गम्भीर खतरा इसलिए बनती है क्योंकि इसका आमतौर पर एहसास नहीं होता। राजनीतिक अधीनता ही धीरे-धीरे ऐसी प्रवृत्ति को जन्म देती है

जिसमें अंतरात्मा घुलने लगती है। "दासता वहाँ शुरू होती है जहॉ बुराई को अनुभव करने की व्यक्ति की क्षमता ही क्षीण हो जाती है या समाप्त हो जाती है, यह दासता तब और गहरी होती है जब बुराई को अच्छाई के रूप में स्वीकार किया जाने लगता है।[109]

भट्टाचार्य इस बात के प्रति सचेत है कि उनकी सांस्कृतिक दासता की अवधारणा का मतलब एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति से सम्पर्क या उसके तत्वों को आत्मसात करने को ही न समझ लिया जाए। सांस्कृतिक दासता का मतलब विदेशी संस्कृति का आत्मसातीकरण नहीं है। आत्मसातीकरण कोई बुराई नहीं। यह संस्कृति के स्वस्थ विकास के लिए सकारात्मक और जरूरी हो सकती है। "सांस्कृतिक दासता वहॉ होती है जहाँ विचारों का पारंपरिक ताना-बाना और मनोभाव एक अजनबी संस्कृति के द्वारा बगैर किसी तुलना या प्रतिस्पर्धा के परास्त किया जाकर एक प्रेत की तरह जकड़ लिया जाता है।[110] यह दासता आत्मा की गुलामी होती है जिससे मुक्ति सहज नहीं। यदि कोई व्यक्ति इससे छुटकारा पा लेता है तो उसे पुनर्जन्म जितनी खुशी होती है। विचारों में स्वराज्य यही है।[111]

प्रोफेसर भट्टाचार्य की चिंता वाजिब लगती है। आखिरकार अपनी जमीन से कटी हुई संस्कृति अपनी संस्कृति कैसे कही जा सकती है? संस्कृति के क्षेत्र में ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया चलती रहती है लेकिन जब जरूरी विवेक खोकर किसी सांस्कृतिक परंपरा को ज्यों का त्यों अपना लिया जाता है अथवा थोपी गई संस्कृति स्वाभाविक लगने लगती है तो संस्कृति विहीनता और दिशाहीनता की स्थिति बननी शुरू हो जाती है। पूरा समाज न उसे स्वीकार पाता है और न उससे मुक्ति के संगठित प्रयास शुरू होते हैं। नतीजे में समाज खंडों में विभक्त हो जाता है। एक वर्ग ऐसा होगा जो अजनबी संस्कृति को पूरी तरह से अपने आचरण व व्यवहार में उतारने की कोशिश कर रहा होगा दूसरा वर्ग इस वर्ग का अनुकरण। इन सबसे अलग बहुसंख्यक लोगों का वर्ग इस पूरे प्रदत्त परिवर्तन से कटा अपनी पारंपरिक जिंदगी जी रहा होगा। संस्कृतिहीनता पहले वर्ग की नियति होती है और तीसरा वर्ग जड़ी भूत और परिवर्तन विरोधी कहे जाने को अभिशप्त। दूसरा वर्ग उहापोह की

दशा में डूबता उतराता थाली का बैगन होता है। अपनी 'समग्रता' में ऐसा समाज दिग्भ्रमित होता है। भविष्य के लिए न कोई सही योजना बन सकती है और न वर्तमान को सुधारने का कोई सच्चा प्रयास शुरू हो सकता है। देशज सृजनशीलता को ग्रहण लग जाता है। जीवन में बेहतरी के सामूहिक प्रयासों के लिए कोई अवकाश नही बचता।

कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य के लिए प्रतिपक्ष में पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति है। केवल उन्हीं के लिए नहीं, उपनिवेशवाद और उसके बाद के दौर में पश्चिमी संस्कृति ही प्रतिपक्ष के रूप में खड़ी की जाती रही। औपनिवेशिक आतंक में जिस भारतीय मानस की रचना हुई उसमें ऐसा होना स्वाभविक ही था। परतन्त्र भारत में राजनीतिक आजादी का मुद्दा महत्वपूर्ण था लेकिन स्वतंत्रता के बाद के दिनों में बौद्धिक या मानसिक स्वराज विचारकों के केन्द्रीय चिंता का विषय बना। प्रख्यात समाजशास्त्री पूरनचंद जोशी ने उक्त चिंता को 'अवधारणाओं के संकट' के रूप में देखा है। पूरनचंद जोशी लिखते है- 'वास्तव में संकट को गंभीर बनाती है पश्चिम से, बिना किसी नीर-क्षीर-विवेक के, अवधारणाओं को उधार लेने की या उन्हें पक्के माल या तकनीकी की तरह बिना जांच-पड़ताल के बड़े पैमाने पर आयात करने की अनेक बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति जो औपनिवेशिक युग में तो प्रबल थी ही लेकिन आज के नव औपनिवेशिक युग में भी अति उग्र रूप धारण कर रही है। पश्चिम का अंधानुकरण करने की प्रवृत्ति वास्तव में उतनी ही खतरनाक है जितनी अपनी देशज रूढ़ियों और विचार पद्धतियों की अंधभक्ति। 'मानसिक स्वराज्य' का आदर्श भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए उतना ही महत् प्रेरणास्रोत था जितना 'आर्थिक स्वराज्य' और राजनैतिक स्वराज्य का लक्ष्य। लगता है 'मानसिक स्वराज्य' का लक्ष्य और कार्यक्रम आज भारत के राट्रीय एजेंडे से हट गया है या हटा दिया गया है। यह कहकर हटा दिया गया है कि यह एक संकीर्ण और सीमित लक्ष्य है जो आज के विज्ञान और तकनीकी द्वारा पूर्णरूप से परिवर्तित एकल विश्व में राष्ट्रो की एक दूसरे पर निर्भरता की वास्तविकता के प्रतिकूल है।[112] 'डा0 जोशी ने यह सही सवाल उठाया है कि बदले विश्व में, ऐसे विश्व में जहाँ भूमंडलीकरण का नारा फैशन में हो 'मानसिक स्वराज्य' का सवाल अप्रासंगिक बना दिया गया है। यह एक

तरह का आत्म छलावा ही साबित होगा। जब तक देश में सांस्कृतिक नवोदय की संभवना का पथ न प्रशस्त होगा हम आर्थिक विकास में दौड़ जरूर लगायेगें लेकिन उर्जाहीन होकर, पिछलग्गू बनकर और घिसटते हुए।

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य का विमर्श आवश्यक होते हुए भी पूर्णतया आश्वस्तपरक नहीं है। प्रो0 भट्टाचार्य ने भारतीय परंपराओं के प्रति श्रद्धा-भाव रखे जाने पर बल दिया है। यह श्रद्धा भाव ही हमें अपनी परम्परा से, अपनी जड़ों से जोड़ सकता है। लेकिन यहाँ मुश्किल खड़ी होती है। कि परंपरा बहुबचन में होती है। क्या हम सभी परंपराओं के प्रति श्रद्धा-भाव रखें? समय-समय पर कुछ परंपराएं नई अर्थवत्ता हासिल करती हैं, कुछ अपनी सार्थकता त्याग कर अनुपयोगी बन जाती है, कुछ में संशोधन करना पड़ता है और नेपथ्य में फेंक दी गई कुछ परंपराओं को महत्ता प्रदान की जाती है, कुछ को नियन्त्रित करना जरूरी होता है, कुछं परंपराएं नई भी शुरू की जा सकती है। राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि -'यह सब परंपराओं की सचेत और सतत् मीमांसा की मांग करता है जो केवल पूर्वाग्रह रहित वस्तुनिष्ठ विवेक से ही संभव हो सकता है। ऐसे विवेक से नहीं जो देशी या विदेश की कुछ परंपरा या परंपराओं के प्रति श्रद्धावनत् होकर अपनी इयत्ता से समझौता कर चुका हो। जहाँ परंपरा और सत्य में विरोधभाव पैदा हो, इसे चाहिए कि वह सत्य का पक्ष ले।'[113]

परंपराओं के साथ भारत में सांस्कृतिक बहुलता भी है। हम किस संस्कृति को केन्द्र में रखें किसे हाशिए पर फेंक दें? किसे अपना मानें और किसे पराया? यह एक दिक्कततलब सवाल है। ज्यादातर हुआ यह है कि देशीयता, राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्मिता, जड़ो की खोज के बवंडर में क्षेत्रीय अस्मिता, लघु सांस्कृतिक पहचान, वर्चस्व के असुविधाजनक पहलू नजर अंदाज हुए हैं, किए भी गए हैं। बहुसंख्यक जनता की सांस्कृतिक पहचान के आगे परिधि की पहचानों, अस्मिताओं की बलि नहीं दी जा सकती। एकांगी और पक्षपातपूर्ण दृष्टि के बदले बहुआयामी दृष्टि अपनानी होगी। एक ही राष्ट्र में 'स्व' और 'पर' के बीच मौजूद गहरी खाई को पाटकर कम करना पड़ेगा। संवादहीनता की स्थिति खतरनाक हो सकती है। इसे तोड़ना पड़ेगा।

वस्तुतः गत्यात्मकता संस्कृति की प्रकृति में अंतर्निहित होती है। अनुकूल और नवाचार की क्षमता के अभाव में सामाजिक विकास पंगु और संस्कृति ऊर्जाहीन हो जाती है। विचार और संस्कृति की बाहरी हवाओं को आने से रोक सकना न सर्वथा सम्भव है और न समझदारीपूर्ण ही। गांधी जी ने कहा था कि हम स्वस्थ सांस्कृतिक प्रभावों के लिए अपने दरवाजे खिड़की खुले रखें पर अपनी बुनियाद पर कायम रहें। इसके साथ नए परिवर्तनों के आलोक में हमें संजोए गये मूल्यों और विचारों का पुनर्मूल्यांकन करते रहना है।

अन्ततः स्वराज्य की संकल्पना के सन्दर्भ में विभिन्न चिंतकों व दार्शनिकों के मतों का विवेचन व विश्लेषण करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि स्वराज्य एक आन्तरिक विचार है। इसे केवल वाह्य वातावरण की एक वस्तु मानना इसका आंशिक रूप देखना है। आन्तरिक स्वराज्य हमारे कार्यो को शक्ति और विशालता प्रदान करता है। सच्चे स्वराज्य का वहीं उपभोग कर सकता है जो अपनी स्वतत्रता के साथ अन्यों को भी स्वतंत्र देखना चाहता है। किन्तु स्वतंत्र बनने के निमित्त आवश्यक है स्वतंत्रता में पूर्ण विश्वास। इस प्रकार के विश्वास के अभाव में इसके प्रक्षण के लिए कष्ट सहने की हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है। वस्तुतः स्वराज्य की अवधारणा में सत्याग्रह एवम् स्वदेशी दोनों ही संकल्पनाओं का समावेश है। अतएव अगले अध्याय में हम इसी तथ्य का अन्वेषण व विश्लेषण करेंगे कि किस प्रकार सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की संकल्पना परस्पर सम्बन्धित व एक दूसरे की पूरक है।

सन्दर्भ स्रोत

1. हरिजन 2-1-37, पृ. 374 ।

2. यंग इण्डिया, 19-3-31 पृ. 38 ।

3 हरिजन, 24.4.46, पृ. 94 ।

4. यंग इण्डिया, वाल्यूम 11, पृ. 517 ।

5. गांधी जी, 'सर्वोदय', नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1963, पृ. 81 ।

6. गांधी जी, 'हिन्द स्वराज्य', नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 95 ।

7. यंग इण्डिया, 1920 ।

8. यंग इण्डिया, 5-3-31, पृ. 1 ।

9. यंग इण्डिया, 16-4-31, पृ. 78 ।

10. यंग इण्डिया, 5-3-31,पृ. 1 ।

11. हरिजन, 25-3-39, पृ. 65 ।

12. यंग इण्डिया, 23-1-30 पृ. 26 ।

13. गांधी जी इन इण्डियन विलेजेज, पृ. 170 ।

14. यंग इण्डिया, 12.3.25 ।

15. यंग इण्डिया, 16.3.21 ।

16. यंग इण्डिया, 4.4.29 ।

17. हरिजन, 2.1.37, पृ. 374 ।

18. मार्डन रिव्यू, 1935 पृ. 402 ।

19. यंग इण्डिया, 15.10.31 पृ. 305 ।

20. हिन्दी नवजीवन, 29.1.25, पृ. 1918 ।

21. हिन्दी नवजीवन, 29.1.25, पृ. 1999 ।

22. यंग इण्डिया 6.8.25 पृ. 276 ।

23. प्रेमचन्द्र रचनावली, खण्ड 14, पृ. 390 ।

24. यंग इण्डिया, 2.7.21 ।

25. गोपीनाथ धवन, 'द पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी', नवजीवन पब्लिसिंग हाउस, अहमदाबाद, 1962, पृ. 282 ।

26. वान्डूरांट जे., 'कनक्वेस्ट ऑफ वायलेंस', द गांधीयन फिलॉसफी ऑफ कानफ्लिक्ट, 172–73 ।

27. यंग इण्डिया, 23.7.21 ।

28. हरिजन, 7.3.36 ।

29. गांधी विचार रत्न, खण्ड 10, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, पृ. 197 ।

30. वही ।

31. वही ।

32. सिंह, रामजी, 'गांधी दर्शन मीमांसा', विहार ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973, पृ. 187 ।

33. हरिजन, 18–1–1948 ।

34. वही ।

35 हरिजन सेवक (हिन्दी साप्ताहिक) 29.8.36 ।

36. हरिजन, 28.7.46 ।

37. गांधी महात्मा, 'मेरे सपनों का भारत', पृ. 32 ।

38. सेठी जयदेव, 'गांधी की प्रांसगिकता', राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली 1979 पृ. 30 ।

39. हरिजन, 1.7.47 ।

40. हरिजन, 19.10.47 ।

41 सर्वोदय, पृ. 79 ।

42. गांधी, मदनलाल गोपाल, 'गांधी और मार्क्स', पृ. 84 ।

43. दीक्षित गोपीनाथ, 'गांधीजी को चुनौती कम्युनिज्म को', नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद 1974,पृ. 66 ।

44. यंग इण्डिया, 2.2.21 ।

45. यंग इण्डिया, 18.6.31 ।

46. हरिजन सेवक (साप्ताहिक) 25.8.46 ।

47. वही ।

48. हिन्दी नवजीवन (साप्ताहिक) 5.7.28 ।

49. हिन्दी नवजीवन, 2.9.21

50. यंग इण्डिया जून 1921

51. जोशी पूरनचन्द्र, 'स्वप्न और यथार्थ, आजादी की आधी सदी', राजकमल प्रकाशन, 2001, पृ. XIII ।

52. गांधी महात्मा, 'हिन्द स्वराज्य', पृ. 74-75 ।

53. गांधी महात्मा, 'मेरे सपनों का भारत', पृ. 93 ।

54. जोशी पूरनचन्द्र, 'स्वप्न और यथार्थ, आजादी की आधी सदी', पृ. 13 ।

55. वही, पृ. XIV ।

56. हरिजन सेवक, 21.9.47 ।

57. वही, 10.9.39 ।

58. रस्तोगी गिरीश, 'भारतेन्दु और अंधेर नगरी', अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994 पृ. 11 ।

59. बाहरी हरदेव, 'हिन्दी: उद्‌भव, विकास और रूप', किताब महल, इलाहाबाद, 2001 पृ. 212-13 ।

60. वही ।

61. इन्दिरा रोजरमंड, 'द फिलॉसफी ऑफ रिसट्रेन्ड', पापुलर प्रकाशन, बाम्बे 1963, पृ. 46-48 ।

62. गांधी महात्मा, 'मेरा धर्म', नवजीवन पब्लिसिंग हाउस, अहमदाबाद, 1955, पृ. 124 ।

63. हरिजन, 25.3.39, पृ. 65 ।

64. यंग इण्डिया, 28.7.21, पृ. 138 ।

65. हिन्दी नवजीवन 8.12.27, पृ. 126 ।

66. हरिजन, 25.3.39, पृ. 66 ।

67. हरिजन, 27.5.39 पृ. 143 ।

68. हिन्दी नवजीवन, 8.12.27, पृ. 126

69. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक' लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 1992, पृ. 269 ।

70. वही ।

71. नागौरी, एस.एल., 'आधुनिक भारतीय संस्कृति' पृ. 70 ।

72. वही पृ. 66 ।

73. द कम्प्लीटेड वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, भाग 5,पृ. 144 ।

74. वही ।

75. द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द भाग-2 पृ. 753 ।

76. वही पृ. 752 ।

77. राय एम.एन., 'इण्डिया इन ट्रान्जिसन', पृ. 193 ।

78. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा 1992 पृ. 127 ।

79. कम्प्लीट वर्क्स, भाग 4, पृ. 327-30 ।

80. पाठक सुशील माधव, 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास', पृ. 94 ।

81. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक' पृ. 337 ।

82 वही ।

83. टैगोर रवीन्द्रनाथ, 'गीतांजलि', पृ. 28 ।

84. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक' पृ.106 ।

85. वही ।

86. टैगोर रवीन्द्रनाथ, 'गीतांजलि', पृ. 35 ।

87. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक' पृ. 95 ।

88. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ तिलक, पृ. 267-86 ।

89. तिलक बालगंगाधर, 'गीता रहस्य' पृ. 398 ।

90. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक', पृ. 252 ।

91. जैन पुखराज, 'भारतीय राजनीतिक विचारक', साहित्य भवन, आगरा, पृ. 137 ।

92. तिलक बालगंगाधर, 'गीता रहस्य', पृ. 375, 377 ।

93. वर्मा विश्वनाथ प्रसाद, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक', पृ. 269 ।

94. वही, पृ. 286 ।

95. वही ।

96. भगवानदास, 'द इसोन्सियल ऑफ ऑल रिलिजन', पृ. 551-52 ।

97. भावे विनोबा, 'लोकनीति विचार', पृ. 8।

98. वही, प्राक्कथन, पृ. 5 ।

99. वही, पृ. 8-9 ।

100. भावे विनोबा, 'सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र', पृ. 179

101. गुप्त आर.सी., 'कतिपय राजनीतिक विचार', पृ. 10 ।

102. भावे विनोबा, 'लोकनीति पर विचार', पृ. 52 ।

103. वही, पृ. 72-73 ।

104. वही, पृ. 73 ।

105. सुरेश राम, 'विनोवा एण्ड हिज मिशन', पृ. 422 ।

106. भावे विनोवा, 'लोकनीति पर विचार', पृ. 98 ।

107. धर्माधिकारी दादा, 'सर्वोदय दर्शन', पृ. 304 ।

108. इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली, वाल्यूम, नं. 4, अक्टूबर 198, पृ. 381 ।

109. वही ।

110. वही ।

111. वही ।

112. जोशी पूरनचंद, 'अवधारणाओं का संकट', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995, पृ. 9 ।

113. आई.पी.क्यू. अक्टूबर 1984, (राजेन्द्र प्रसाद का लेख 'स्वराज, रेवरंस एण्ड क्रिएटीविटी') पृ. 50 ।

* * * * * * * *

पंचम अध्याय

सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य का पारस्परिक सम्बन्ध

भारत के नवजागरण एवम् स्वतन्त्रता संग्राम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी- "मेरे सपनों का भारत" की अवधारणा। इस संकल्पना के व्यवहारिक प्रतिफलन के रूप में 'सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य' की अवधारणा विकसित हुई। महात्मा गांधी का तो सम्पूर्ण चिंतन व दर्शन सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य की अवधारणाओं का एक संजाल ही है। अर्थात ये ही संकल्पनाएं उनके दर्शन के आधार स्तम्भ हैं। किन्तु गांधी दर्शन को समझने के लिए न केवल यह आवश्यक है कि इन अवधारणाओं की व्याख्या की जाय वरन् इसकी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए (इन अवधारणाओं) इनमें उचित आपसी सम्बन्ध भी निश्चित किया जाये। इस सन्दर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि गांधीजी की अवधारणाएं एक सम्पूर्ण इकाई है। गांधीजी विभिन्न दर्शनों के तत्व लेकर जोड़ने वाले उदारवादी नहीं थे। अनेक विद्वानों ने गांधीवादी अवधारणाओं को इस अर्थ में उदारवादी कहा है और इसी कारण इन व्यक्तियों के हाथों अन्त में इन अवधारणाओं का स्वरूप विकृत हो गया।[1] दूसरे, गांधीवादी पद्धति किसी सैद्धान्तिक अनुभव का प्रतिफलन नहीं है। उन्होंने अपने समूचे जीवन को सत्य का एक प्रयोग कहा है जो सत्य से ही आरम्भ होता है। सत्य के विषय में किसी विशेष दृष्टिकोण की पुष्टि अनुभव द्वारा हो सकती है, उसके विषय में और अधिक जानकारी हासिल की जा सकती है या उस सत्य को अस्वीकृत भी किया जा सकता है, किन्तु यह सत्य उस अनुभववाद से नहीं प्राप्त किया जा सकता जो परिभाषा से सीमित रहता है। तीसरे, गांधीवादी अवधारणाएं किसी एक प्रसंग या सन्दर्भ के आधार पर निर्मित नहीं थी। वे हजारो वर्षो के समूचे मानवीय अनुभवों का प्रतिफल होने के कारण मूल अवधारणाएं थीं। दूसरे शब्दों में अगर किसी गांधीवादी अवधारणा का किसी विशेष प्रसंग में उपयोग किया जाये तो यही उपयोग किसी दूसरे प्रसंग में उपयोगी हो, यह जरूरी नहीं है। चौथे, गांधीवादी अवधारणाएं ऐतिहासिक है, लेकिन इतिहास का अध्ययन करने का एक विशेष गांधीवादी तरीका है। गांधीवादी पद्धति न तो एकरेखीय है और न ही पिरामिड जैसी भी। गांधी जी के अनुसार यह महासागर की लहरों के वृत्तों की तरह है, जिसका एक ही केन्द्र होता है। ये वृत्त सकेन्द्रित होते है और केन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया, समृद्धि और विकासोन्मुख प्रगति को परिलक्षित करते हैं। वस्तुतः सभी गांधीवादी

अवधारणाएं सापेक्ष और परस्पर पूरक है।[2] इन्हीं उपरोक्त तथ्यों व मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए 'सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य' की अवधारणाओं के अन्तर्सम्बन्धों का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

सत्याग्रह एवम् स्वराज्य– साध्य और साधन में विभेद न करने वाले अपितु साध्य की अपेक्षा साधन को ही अधिक महत्व देने वाले महात्मा गांधी ने स्वराज्य रूपी साध्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह एवं स्वदेशी रूपी पवित्र साधन को अपनाने पर ही बल दिया। गांधीजी की यह दृढ़ मान्यता थी कि अपने मन का राज्य अथवा हम अपने ऊपर राज करें वही स्वराज्य है। उसकी कुंजी सत्याग्रह, आत्मबल या करूणा बल है, तथा उस बल को आजमाने के लिए स्वदेशी को पूरी तरह अपनाने की जरूरत है।[3] वस्तुतः सत्याग्रह और स्वदेशी के द्वारा ही न केवल स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है वरन् उसका संरक्षण व सचालन भी इन्हीं के द्वारा सम्भव है। उनके अनुसार "मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही प्राप्त करना है तथा उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता।"[4] गांधीजी ने अपनी उपरोक्त मान्यता को तार्किक कारणों से भी सिद्ध किया है। उनके शब्दों में इसका कारण स्पष्ट व सीधा है। "यदि असत्यमय और हिंसक उपायों का प्रयोग किया गया, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियों को दबाकर या उनका नाश करके समाप्त कर दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को प्रगट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है।"[5] दूसरे, सत्य और अहिंसा के जरिये स्वराज्य की प्राप्ति का मतलब है जात-पांत, वर्ण या धर्म के भेद से रहित राष्ट्र के प्रत्येक घटक की और उसमें भी उसके गरीब से गरीब व्यक्ति को स्वतन्त्रता की सिद्धि।...जिस हद तक हम सत्य और अहिंसा का अपने दैनिक जीवन में अमल करेंगे, उसी हद तक हमारी प्राप्त की हुई सम्पूर्ण स्वतन्त्रता भी पूर्ण होगी।[6]

महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह को स्वराज्य से भी ज्यादा महत्वपूर्ण व प्राथमिक मानते है। उनके अनुसार "मेरे लिए अहिंसा का स्थान स्वराज्य से पहले है।"[7] गांधीजी के अनुसार अहिंसक राज्य अर्थात् स्वराज्य के विकास की निर्णायक वस्तु

राज्य के ढाँचे की मूर्त कल्पना नहीं होती, सामान्य जन की आत्मशक्ति अर्थात् अहिंसा ही उसके विकास को निश्चित बनाती है। किसी प्रजा को वैसा ही राज्य मिलता है, जैसे पाने की योग्यता उसमें होती है और राज्य का स्वरूप तो केवल जनता के नैतिक स्तर की मूर्त अभिव्यक्ति मात्र होता है। इस प्रकार यदि जनता सच्चे अर्थ में अहिंसक न हो तो ऊपर से लोकतान्त्रिक दिखायी देने वाले संविधान के अधीन भी शोषण और हिंसा जारी रह सकते है, जैसा कि वे अधिकतर पश्चिमी देशों में विद्यमान रहे हैं। दूसरी, ओर ज्योंही जनता आत्मनियन्त्रण सिद्ध कर लेती है, सत्याग्रह की पद्धति पर अधिकार प्राप्त कर लेती है तथा आपस में स्वेच्छा से सहयोग करना और शोषक के साथ असहयोग करना सीख लेती है, त्योंही अहिंसा के आचरण की गौण उपज के रूप में अहिंसक राज्य अर्थात् स्वराज्य अपने आप जन्म ले लेता है। वस्तुत: गांधीजी की दृष्टि में स्वराज्य जैसा पवित्र उद्देश्य हिंसक विधानों से पूरा नही हो सकता। द्वेष को हम द्वेष से नहीं, सहिष्णुता, प्रेम और सेवा से ही जीत सकते हैं। क्रोध को क्षमा से, द्वेष को प्रेम से और सन्देह को विश्वास से ही परास्त किया जा सकता है। जिस तरह क्षमा और प्रेम सत्य है उसी तरह क्रोध और हिंसा असत्य है। सत्य ने संसार में सदैव असत्य पर विजय पायी है। इस शाश्वत नियम में कभी अपवाद नहीं हुआ। सम्भव है, कुछ समय के लिए असत्य ने सत्य को दबा लिया हो, उसी तरह जैसे कभी-कभी मटियाले मेघ सूर्य को छिपा लिया करते है, लेकिन सूर्य जो सत्य है जल्द या देर में मेघों को छिन्न-भिन्न करके फिर अपना प्रखर प्रताप दिखाता है।

गांधीजी का विचार था कि आदर्श व्यवस्था में चूँकि राज्य नहीं होगा, इसलिए अधिकार जैसी किसी धारणा का विकास नहीं होगा। उस व्यवस्था में व्यक्ति के कर्तव्य ही प्रमुख होगें, जिनका आधार नैतिकता है। गांधीजी के अनुसार-"अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो तो कोई बात नही, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्क होना चाहिए। हर एक कर्तव्य के साथ उसकी तौल का अधिकार जुड़ा हुआ होता ही है और सच्चे अधिकार तो वे ही है जो अपने कर्तव्यों का योग्य पालन करके प्राप्त किये गये हो। इसलिए नागरिकता का अधिकार सिर्फ उन्हीं को मिल सकता है, जो उस राज्य में रहते है उसकी सेवा करते हों और सिर्फ वे ही इन अधिकारों के साथ पूरा न्याय कर सकते है।....जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन करता है उसे स्वयमेव अधिकार मिल जाते है और इसका उपयोग वे समाज की सेवा के लिए ही करते है, अपने

लिए कभी नहीं।[8] सत्य और अहिंसा पर आधारित कर्तव्य को ही गांधीजी ने व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया है। क्योंकि उनके अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति का सच्चा स्त्रोत कर्तव्यपालन ही है। यदि व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करें तो अधिकारों को ज्यादा ढूढ़ने की जरूरत नही रहेगी। लेकिन यदि कर्तव्यों को पूरा किये बिना अधिकारों के पीछे दौड़ा जाय तो वह मृग मरीचिका के पीछे पड़ने जैसा व्यर्थ सिद्ध होगा।[9]

गांधी जी सत्याग्रह एवम् स्वराज्य को एक ही मूलतत्व सत्य से सम्बन्धित मानते हैं। उनके अनुसार सत्याग्रह सत्य की शोध है।... मेरे लिए स्वराज्य उसी सत्य का एक अंग है।"[10] सत्य एवं अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह पद्धति की उपयोगिता को गांधीजी ने स्वराज्य की स्थिति में भी स्वीकार किया है, भले ही इसका स्वरूप थोड़ा परिवर्तित हो जाय। उनके अनुसार "कुछ लोग कहते हैं कि अब स्वराज्य हो गया है इसलिए लोकनियुक्त सरकार के खिलाफ सत्याग्रह नहीं हो सकता। मैं नहीं मानता हूँ कि सत्याग्रह करने का अधिकार कभी स्थगित हो सकता है। योग्य आदमी के लिए शुद्ध सत्याग्रह करने का अधिकार हमेशा रहता ही है। हॉ, परिस्थिति के अनुसार सत्याग्रह का रूप बदलना पड़ेगा। दूसरे यह कहना भी तर्कसंगत नहीं कि सत्याग्रह सिर्फ सरकार के खिलाफ हो सकता है। स्वराज्य के युग में सरकार के खिलाफ सत्याग्रह करने के प्रसंग तो कभी-कभी ही उठते है किन्तु सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ, संस्थाओं के दोषों के खिलाफ और धर्म के नाम प्रचलित अधर्म के खिलाफ सत्याग्रह करने के अवसर तो प्राय: आते रहते है।"[11]

इस प्रकार सत्याग्रह पद्धति केवल पराधीनता या राजनीतिक उपनिवेशवाद में ही प्रासंगिक नहीं वरन् राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् भी उसकी उपयोगिता बनी रहती है। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी एवं विड़ला के आपसी संवाद का एक दृष्टान्त अत्यधिक प्रासंगिक है। वह यह कि "आजादी के बाद विड़ला जी ने वापू से विनोद में पूछा- "बापू आप तो आजीवन अंग्रेजों से लड़ते रहे। अब तो वे चले गये, आप अब किनसे लड़ेगे। "गांधीजी ने तुरन्त हॅसते हुए अपनी तर्जनी बिड़ला की तरफ कर दिया।"[12] गांधीजी की दृष्टि में सत्याग्रह हर सन्दर्भ और हर समय प्रासंगिक है। उनके अनुसार कलियुग की तो बात ही छोड़ दी जाये, सतयुग तक में सत्याग्रह होना चाहिए। संघर्ष जीवन का अंग है और जिस समाज में अलगाव व गरीबी दोनों छाये हों, वहाँ सत्याग्रह को उचित दिशा व स्वरूप देना चाहिए, ताकि वह सार्वजनिक हिंसा, विभाजन व विघटनकारी शक्तियों के जमाव, व्यापक घृणा, भ्रष्टाचार व राजनीति के झूठ में न बदल जाये। गांधीजी ने 1930 में

ही यह स्पष्ट कहा था, "मेरी अहिंसा मुझे उन सवालों को लेकर, जो भारत के स्वतन्त्र होने पर उठेंगे, अपने देशवासियों से ही संघर्ष करने से नहीं रोक सकेगी।"[13]

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्याग्रह स्वराज्य के लिए अपरिहार्य है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि स्वराज्य की संकल्पना में सत्याग्रह की अवधारणा अन्तर्निहित व समाविष्ट है। न केवल स्वराज्य की प्राप्ति वरन् उसके संरक्षण एवं परिष्कार के लिए सत्याग्रह की पद्धति अनिवार्य है। सत्याग्रह के विना वास्तविक स्वराज्य की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः सत्याग्रह का परिपालन करने वाला आदर्श नागरिक होता है और ये आदर्श नगारिक ही स्वराज्य की रूपरेखा निश्चित करते है। जिस राष्ट्र में जितनी ही अधिक संख्या में सत्याग्रही नागरिक होगें वह राष्ट्र यथार्थतः स्वराज्य की संकल्पना के उतना ही अधिक समीप होगा।

स्वराज्य एवम् स्वदेशी– 'स्वराज्य' और 'स्वदेशी' की अवधारणाएं दोनो एक दूसरे की जनक है, यहाँ तक कि कभी–कभी इनमें से एक की चर्चा करने पर दूसरे की चर्चा स्वतः ही होने लगती है, एक की जगह दूसरी का प्रयोग होता है, और एक ही जगह अंत। पहले जब गांधी ने 'स्वराज्य' की व्याख्या की थी तब उन्होंने इसमें तीन तत्वों को सम्मिलित किया था। (i) हिन्दू–मुस्लिम एकता; (ii) छुआछूत का निवारण, और (iii) स्वदेशी। उस समय 'स्वदेशी' का कुछ संकीर्ण अर्थ था। यह विदेशी वस्तुओं का बायकाट करने और विदेशों से मँगायी गयी मशीनरी से बनायी गयी चीजों की अपेक्षा दस्तकारी और अन्य लघु उद्योगों को संरक्षण देने तक सीमित था। किन्तु स्वदेशी की इस संकीर्ण परिभाषा का स्थान जल्दी ही अपेक्षाकृत एक व्यापक परिभाषा ने ले लिया। अंत में, इस परिभाषा ने 'स्वराज्य' की अवधारणा को भी अन्तर्मुक्त कर लिया। अवधारणात्मक सम्बन्ध में इस विशिष्ट विकास का परिणाम यह हुआ कि इससे "स्वदेशी" का एक और पक्ष सामने आया, कि अवधारणाओं में परस्पर सम्बन्ध ही नही होता, बल्कि यह सम्बन्ध पहले बताये गये सम्बन्धों की अपेक्षा और अधिक व्यापक हो सकता है। 'स्वराज' और 'स्वदेशी' इन दोनो की समवेत भावना ही गांधीवादी अर्थव्यवस्था की बुनियाद है।"[14]

स्वदेशी सिर्फ एक आर्थिक संकल्पना नहीं है, यह एक राजनीतिक संकल्पना भी है। इस रूप में स्वदेशी राजनीतिक स्वराज्य से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इस सम्बन्ध में गांधी जी का यह स्पष्ट मंतव्य था कि राजनीतिक स्वाधीनता के अन्तर्गत अपनी शासन पद्धति को

किसी विदेशी शासन पद्धति के अनुरूप बनाने के बजाय अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाया जाय। अर्थात् स्वदेशी शासन पद्धति ही स्वराज्य के अनुकूल है। गांधी जी के शब्दों में "राजनीतिक स्वतन्त्रता से मेरा यह मतलब नहीं कि हम ब्रिटेन की लोकसभा की या रूस के सोवियत शासन की या इटली के फासिस्ट या जर्मनी के नाजी शासन की नकल करें। उन देशों की शासन पद्धतियां उनकी अपनी प्रकृति के अनुरूप है। हमारी शासन पद्धति हमारी प्रजा की प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए।"[15] वस्तुतः स्वदेशी की अवधारणा स्वराज्य की अवधारणा से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। "वेद में 'स्वराज्य' की कल्पना के मूल में स्वदेशी का भाव है। स्वराज्य का अर्थ केवल अपना शासनतन्त्र ही नहीं अपना अर्थतन्त्र, अपना शिक्षातन्त्र और अपना जीवन तन्त्र भी है। अपनी भाषा, अपनी वेश-भूषा, अपना साहित्य, संगीत व कला के बिना हमारी पहचान भी क्या होगी? आज हम उदारवाद और छद्म वैश्विकता का बहाना बनाकर अपनी अस्मिता को भूल रहे है।"[16] वस्तुतः स्वदेशी की अवधारणा ही हमें अपनी भाषा, संस्कृति और जीवन मूल्यों के प्रति गहरा भावनात्मक लगाव पैदा करती है, तथा यह हमारी विशिष्ट पहचान और अस्मिता को बनाये रखने में सहायक होती है। भारत में स्वराज्य प्राप्ति के लिए आवश्यक राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने व राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ करने तथा आर्थिक दासता से मुक्त कर स्वावलम्बी बनाने में स्वदेशी की संकल्पना अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए थी। गांधीजी ने अपने आर्थिक स्वराज्य के प्रत्यय में स्वदेशी की भावना का निरूपण करते हुए लिखा है कि "भारत स्वदेशी की भावना के द्वारा स्वतन्त्र हुआ है और उसका आर्थिक विकास भी इसी भावना के द्वारा हो सकता है। किसी भी भारतीय को अपने देश की बनी वस्तु का व्यवहार करने के लिए उपदेश करना पड़े तो यह उसके लिए शर्म की बात है।.. स्वदेशी की भावना संसार के सभी स्वतन्त्र देशों में है।"[17]

आर्थिक दृष्टि से स्वदेशी की अवधारणा स्वराज्य प्राप्ति व उसके संरक्षण के लिए अपरिहार्य है। इसके माध्यम से ही कोई व्यक्ति समाज व राष्ट्र आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी बन सकता है। यदि हम अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करने लगे अथवा राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर व स्वावलम्बी हो जाय तो आर्थिक उपनिवेशवाद जैसी समस्याओं से आसानी से छुटकारा पाया जा सकता है। स्पष्ट है कि स्वदेशी आर्थिक आजादी और आत्मनिर्भरता का दूसरा नाम तो है ही साथ ही उसमें पाश्चात्य नव उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष का एक ऐलान है।"[18]

वस्तुतः विश्व साम्राज्यवाद के बदलते हुए स्वरूप में राजनीतिक उपनिवेशवाद का स्थान आर्थिक उपनिवेशवाद ने ले लिया है। इस नव उपनिवेशवाद का सामना आर्थिक स्वावलम्बन के माध्यम से ही किया जा सकता है। वस्तुतः राजनैतिक गुलामी ·आर्थिक गुलामी का ही अनुगमन करती है। आज सही माने में वही देश स्वतन्त्र है जो आर्थिक रूप से अधिकाधिक स्वावलम्बी है। परावलम्बन ही परतन्त्रता का पार-पत्र है व स्वावलम्बन ही स्वराज्य की कुंजी है। स्वराज्य भी हो तथा हम भोजन, वस्त्र आवास एवं अन्य आवश्यक दिनोदिन उपयोग की वस्तुओं के मामले में दूसरे देशों पर निर्भर करें, यह आत्मविरोधमूलक है। यही कारण है कि आधुनिक युग में राष्ट्रीय पुनर्जागरण के प्रारम्भ से ही राजनीतिक परतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक परतन्त्रता और दुरावस्था को उजागर किया गया।[19] गांधी जी ने राजनीतिक व्यूह रचना में आर्थिक सवालों को इस प्रकार जोड़ दिया कि दोनों अलग रहे ही नहीं। असहयोग आन्दोलन के समय त्रिविध बहिष्कार में विदेशी वस्त्र वहिष्कार को बहुत बड़ा स्थान दिया गया। असहयोग, सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह के साथ कृषि, पशुपालन, खादी ग्रामोद्योग एवं स्वदेशी को जोड़कर गांधी जी ने स्वराज्य की कल्पना को अर्थगर्भित कर दिया। स्वदेशी आन्दोलन तो गांधी के स्वराज्य आन्दोलन का एक प्रमुख अंग बन गया। जिसमें आर्थिक स्वावलम्बन के साथ सांस्कृतिक क्रांति का भी भाव सन्निहित था। वस्तुतः "स्वदेशी में एक साथ राजनैतिक सम्प्रभुता की सुरक्षा, आर्थिक स्वायत्तता का अहसास और सांस्कृतिक अस्मिता का मान तीनों तत्व सन्निहित है।"[20]

स्वदेशी धर्म के पालन का यह अर्थ कदापि नही है कि हम विदेशी चीजों से घृणा करें। जो चीज अपने देश में नहीं बन सकती या बड़ी कठिनाई से बन सकती है, उसे विदेशियों के प्रति द्वेष रखने के कारण यदि वह बनाया जाने लगे तो वह स्वदेशी धर्म नहीं होगा। वस्तुतः गांधीजी का वहिष्कार आन्दोलन किसी देश-विशेष के प्रति घृणा या नफरत पर आधारित नहीं था वरन् यह शोषण, अन्याय, अत्याचार का वहिष्कार था। स्वावलम्बी का अर्थ कूपमंडूकता नहीं और न ही स्वयंपूर्ण बनना है, क्योंकि किसी भी हालत में हम सब चीजें नहीं पैदा नही कर सकते और न हमें करना है। किन्तु जो चीजें हम पैदा नहीं कर सकते उन्हें पाने के लिए उनके बदले में देने को हमें अपनी आवश्यकता से अधिक चीजें पैदा करनी होगीं।[21] वस्तुतः जब समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए परावलम्बन आवश्यक होता है तब वह परावलम्बन नहीं रह जाता है परन्तु सहयोग हो जाता है। स्वदेशी अपने इसी व्यापक दृष्टि के चलते किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र विशेष का धर्म

नहीं वरन् सभी देशों के मानव मात्र का धर्म है। गांधीजी की यह दृढ़ मान्यता थी कि स्वदेशी एक धार्मिक नियम है जिसका पालन उससे होने वाले सारे शारीरिक कष्टों के बावजूद भी होना चाहिए।[22]

पूर्व स्वराज्य की उपलब्धि व सरंक्षण में वर्तमान में स्वदेशी की अवधारणा अत्यधिक प्रासंगिक है। यद्यपि इसका आर्थिक पहलू अत्यधिक महत्वपूर्ण है किन्तु इसका नैतिक आध्यात्मिक, भावनात्मक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक पहलू गौण नहीं। वर्तमान युग की अतिभौतिकवादी, उपभोक्तावादी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण स्वदेशी के नैतिक पहलू आत्मसंयम व आत्मनियन्त्रण की अवधारणा को अपनाकर प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान में देश की ढ़ेर सारी समस्याओं के मूल में देश के प्रति लगाव, अथवा देश-प्रेम की भावना का ह्रास है। किन्तु स्वदेशी लोगों में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में अत्यधिक सहायक है। राष्ट्रीयता का आवश्यक सोपान स्वदेशी की अवधारणा है। इससे उद्‌भूत राष्ट्रीयता की भावना अर्न्तराष्ट्रीयता में वाधक नहीं क्योंकि यह संकीर्ण मानसिकता व विचारों पर आधारित नही है। यह सच है कि स्वदेशी स्वदेश, प्रेम की कुंजी है और विश्वप्रेम का राजमार्ग[23] सामाजिक दायित्वों के प्रति उदासीनता, कर्तव्यवोध का अभाव, स्वार्थपरायणता की भावना से निजात स्वदेशी की अवधारणा को अपनाने से ही सम्भव है, क्योंकि स्वदेशी स्वधर्म पालन की सीख देती है और इस स्वधर्म पालन के माध्यम से हम सामाजिक दायित्वों के प्रति जागरूक रहते हैं। स्वार्थ की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर अपने कर्तव्यों का समुचित निर्वहन करते हैं। वस्तुतः यदि सभी व्यक्ति अपने स्थान और उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का ईमानदारी से निर्वहन करें तों अधिकांश समस्याओं का समाधान अपने आप हो जायेगा।

पूर्ण स्वराज्य की उपलब्धि में स्वदेशी दृष्टिकोण की महत्ता के सन्दर्भ में प्रसिद्ध वैज्ञानिक व निवर्तमान राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम का मंतव्य है कि यदि भारत को विकसित राष्ट्र बनना है तो इसे स्वदेशी दृष्टिकोण को अपनाना ही होगा तथा भारत को पश्चिम के नजरियें से देखने से बचना होगा। उनके शब्दों में- "हमारे पास वे सभी संसाधन हैं जो हमें चाहिए, चाहें वे लोग हों, प्रतिभा हो प्राकृतिक सम्पदा या अन्य सम्पत्ति ही क्यों न हो। सचमुच भारत में संसाधनों की प्रचुरता है, भले ही वह फिलहाल सुषुप्तावस्था में है। संसाधनों की कमी हमारी समस्याओं का कारण नहीं है। हमारी समस्याएँ दरअसल उनके प्रति हमारे नजरिये की देन है।... जितने संसाधन हमारे पास हैं व जितनां धन हम खर्च करते हैं

उससे तो हम जो फिलहाल कर पा रहें है उसका तीन गुना कार्य और वह भी जितना अमूमन समय हम लेते हैं उससे आधे समय में कर सकते हैं, बशर्ते हम मिशन भावना से प्रेरित होकर अपने देश के दूरगामी हितों को ध्यान में रखकर काम करें।[24]

अब्दुल कलाम के अनुसार हमें किसी देश के मॉडल और अवधारणाओं की नकल करने के बजाय मौलिक स्त्रोत व समाधान स्वदेशी चिंतन के माध्यम से खोजने पेड़ेगें। उनके अनुसार "देश में विचारों की बजाय उनकी समीक्षाएँ कहीं ज्यादा उपलब्ध होती हैं। हर रास्ते को कोई न कोई बाधा रोके हुए है। जड़ता में फँसी इन ऊर्जाओं और दमित प्रयासों को मुक्त कराने की तथा उन्हें सार्थक रूप में नियन्त्रित करने की जरूरत है। इसके लिए हमें कहीं और से अपने प्रतिमान उधार लेने की जरूरत नही है। मैं नहीं मानता कि अमेरिकी, जापानी या सिंगापुरी समाधान हमारे यहाँ कारगर साबित होगें। दूसरों के दरवाजे पर दस्तक देना व्यर्थ ही है। सिद्धान्तों का आयात करने और अवधारणओं का प्रत्यारोपण करने के बजाय हमें अपने खुद के समाधान विकसित करने चाहिए। हल तलाशने के लिए बाहर देखने की बजाय हमें अपने भीतर झाँकना होगा।[25]

वस्तुत: हर राष्ट्र ने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया है। पीढ़ियों ने अपनी संतानों का जीवन बेहतर बनाने के लिए अपना सर्वोत्तम सौंपा है। किन्तु भारत के सन्दर्भ में वर्तमान में सबसे बड़ी समस्या पराजित मानसिकता की है। अब्दुल कलाम के अनुसार भूमडण्लीय व्यापार व्यवस्था, मंदी, मुद्रास्फीति, घुसपैठ, अस्थिरता जैसी तमाम बाहरी समस्याओं से कहीं ज्यादा चिन्ता मुझे उस जड़ता की है जिसने राष्ट्रीय मानस को जकड़ा हुआ है मैं पराजय की मानसिकता को लेकर बहुत चिंतित हूँ। मेरा मानना है कि जब हमें अपने लक्ष्यों पर भरोसा होता है, तब हम जो भी सपना देखते हैं वह साकार हो सकता है, परिणाम ऐसे में स्वत: सामने आते हैं।[26]

वस्तुत: स्वराज्य की अवधारणा अथवा मेरे सपनों के भारत की परिकल्पना तब तक साकार नहीं हो सकती है जब तक हमें अपने ऊपर आत्मविश्वास नहीं होगा। अपने लक्ष्यों के प्रति आशावादी, कर्तव्यनिष्ठ व समर्पित नहीं होगें। देश के विकास में अपना विकास नहीं देखेंगे। अर्थात् स्व और देश का सही मायने में सच्चा संतुलन व सामंजस्य ही स्वदेशी की अवधारणा है और यही स्वदेशी स्वराज्य की परिकल्पना को साकार करने की अद्‌भुत सामर्थ्य रखती है। यह सच है कि स्वदेशी को व्यवहार में उतारा जाय तो मानवता के स्वर्ण युग अर्थात स्वराज्य की स्थापना की जा सकती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता

है कि यदि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है तो स्वदेशी जन्मसिद्ध कर्तव्य।

सत्याग्रह एवम् स्वदेशी का सम्बन्ध– सत्याग्रह एवम् स्वदेशी की अवधारणा अवियोज्य रूप से जुड़ी हुई है। जिस प्रकार स्वराज्य की संकल्पना में ही स्वदेशी की भावना सन्निहित है[27] उसी प्रकार सत्याग्रह की व्यापक अवधारणा में स्वदेशी का भाव समाहित है। महात्मा गॉधी ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए इस रूप में लिखा है कि सत्याग्रह के व्यापक स्वरूप में अनेंक बातों का समावेश हो जाता है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण वस्तु स्वदेशी है।[28] गॉधीजी का सत्याग्रह केवल राजनैतिक ही नहीं एक साथ सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संघर्ष का उपकरण था।[29] वस्तुत: गाँधीजी स्वदेशी एवम् सत्याग्रह को पृथक्-पृथक् अवधारणा न मानकर एक दूसरे से अपृथक् स्वीकार करते हैं। अर्थात् एक के परिचालन में दूसरा अपने आप समाहित होता है। उनके अनुसार स्वदेशी व्रत के पालंन में सत्याग्रह का मूल मंत्र निहित है।[30]

समाज से शोषण, विषमता, अन्याय और हिंसा को समाप्त करने के लिए गाँधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन में स्वदेशी की संकल्पना को समाविष्ट किया। गाँधीजी के "स्वदेशी की कल्पना में नीचे की इकाइयों के आर्थिक स्वावलम्बन पर इसलिए जोर दिया जाता है कि बिना स्वावलम्बन की सिद्धि के शोषण से हम उन्हें बचा नहीं सकते। शोषण ही विषमता और अन्याय की जननी है। दूसरे स्वदेशी के आर्थिक स्वावलम्बन में विकेन्द्रीकरण भी निहित ही है। केन्द्रित अर्थतन्त्र में इकाइयों का स्वावलम्बन ही नहीं है। फिर केन्द्रीयकरण मे हिंसा निहित है। अत: गाधी जी की स्वदेशी की कल्पना में विकेन्द्रीकरण अवश्यम्भावी है।[31]

इस प्रकार स्वदेशी सत्याग्रह के लक्ष्यों को पूरा करने वाली अवधारणा है। यह सच है कि राजनैतिक पराधीनता आर्थिक गुलामी का एवम् आर्थिक गुलामी राजनैतिक पराधीनता का ही अनुगमन करती है। अतएव सच्चा स्वराज्य हमें तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि हम इन दोनों प्रकार की पराधीनता से एक साथ मुक्त न हों । किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि सत्याग्रह में स्वदेशी का एवं स्वदेशी में सत्याग्रह का समावेश हो। इस प्रकार दोनों ही संकल्पनायें एक दूसरे में अन्तर्निहित व परस्पर पूरक है। यही कारण है कि महात्मा गॉधी ने सत्याग्रह एवं स्वदेशी की संकल्पना को एक साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयुक्त किया। वस्तुत: असहयोग, सविनय अवज्ञा, एवम् सत्याग्रह के साथ कृषि, पशुपालन, खादी ग्रामोद्योग एवम् स्वदेशी को जोड़कर गाँधी ने स्वराज्य की कंल्पना को अर्थगर्भित कर दिया।[32] एक सत्याग्रही के लिए स्वदेशी व्रत का परिपालन आवश्यक है। स्वदेशी का

परिपालन व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से मजबूत करता है और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करता है। यह चारित्रिक उत्थान व आध्यात्मिक विकास सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है। इसी दृष्टि के चलते वस्तुतः स्वदेशी की संकल्पना पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता का विरोध करती है क्योंकि वह व्यक्ति को नैतिक व चारित्रिक रूप से कमजोर बनाती है। इस प्रकार स्वदेशी सत्याग्रह तक पहुँचने का एक सोपान है।

सत्याग्रह, स्वदेशी एवम् स्वराज्य के अन्तर्सम्बन्धों का विवेचन व विश्लेषण करने के पश्चात् एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या सत्याग्रह एवम् स्वदेशी स्वराज्य प्राप्ति व संरक्षण के राजनीतिक व आर्थिक साधन मात्र हैं? बाल गंगाधर तिलक का तो यह मंतव्य है कि हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी एवम् सत्याग्रह उसकी शाखाएं हैं। इस सन्दर्भ में यह तथ्य स्पष्ट है कि गांधी दर्शन में साधन और साध्य का उस रूप में पृथक् अस्तित्व नहीं है जैसी प्रचलित अवधारणा है, क्योंकि साध्य साधन का ही घनीभूत रूप है। अतएव साध्य और साधन के स्वरूप और उनके आपसी सम्बन्धों का विवेचन भी आवश्यक है। गांधी के साधन-साध्य विचार का बीज तत्व गीता का निष्काम कर्म है जिसमें फल के बदले कर्तव्य पर बल दिया जाता है। भारतीय-दर्शन के कर्मवाद का भी इस पर थोड़ा असर है।[33]

साधन और साध्य की सामान्य और नैतिक-दोनों भूमिकाएं है। नैतिक भूमिका में साध्य किसी के प्रायोजन, लक्ष्य और परिणाम का सूचक है। साधन वह क्रिया है जिसके द्वारा इच्छित लक्ष्य और परिणाम को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु नीतिशास्त्र में साध्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। टी. एच. ग्रीन, मैकेंजी, काण्ट साध्य का अर्थ प्रेरणा या प्रेरक तत्व से लेते है। परन्तु मिल, बेन्थम और चार्वाक् साध्य का अर्थ कार्यों का परिणाम ही मानते है। गांधी की योजना में साध्य के अन्तर्गत लक्ष्य (आत्मनिष्ठ तत्व) और परिणाम (वस्तुनिष्ठ तत्व) दोनों का समावेश है।[34] इन दोनों को गांधी सत्य मानते है क्योंकि परम तत्व के रूप में सत्य के अन्तर्गत आंतरिक और वाह्य दोनों प्रकार की सत्ता आ जाती है। अतः गांधी के अनुसार सत्य साध्य है।[35] चूँकि स्वराज्य तात्विक अर्थ में सत्य ही है, अतएव स्वराज्य साध्य है। साधन के सन्दर्भ में गांधी जी का विचार मार्क्स, कौटिल्य, मैकियावली इत्यादि से भिन्न है। जहाँ मार्क्स इत्यादि यह मानते हैं कि साध्य की पवित्रता साधन को भी पवित्र बना देती है साध्य हीं साधन के औचित्य को

सिद्ध करता है, वहीं गांधी जी का मंतव्य इसके ठीक विपरीत है। इनके अनुसार साधन ही साध्य के औचित्य को सिद्ध करता है। साधन की पवित्रता साध्य को पवित्र बना सकती है। अतएव साधन ही सब कुछ है।[36]

साधन की श्रेष्ठता निरूपति करने के लिए गांधी जी ने कई प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की है। उनके अनुसार अशुद्ध साधन का परिणाम अशुद्ध होता है असत्य के आधार पर कोई सत्य तक पहॅुच नहीं सकता, सत्य आचरण के आधार पर ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है।[37] गांधीजी स्पष्ट कहते हैं– "लोग भले ही कहें कि साधन आखिर साधन ही है, लेकिन मै तो यही कहूंगा कि साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन होगा वैसा साध्य होगा। साधन और साध्य के बीच वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। फिर ईश्वर नें हमें साधन पर ही नियन्त्रण दिया है, वह भी सीमित मात्र में। साध्य पर तो हमारा अधिकार ही नहीं है। लक्ष्य की प्राप्ति ठीक उसी अनुपात में होती है जिस अनुपात में हमारा साधन होता है। यह ऐसी प्रतिज्ञप्ति है जिसका कोई अपवाद नहीं है।"[38] इसका समर्थन गीता के "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" से भी होता है। अर्थात हमें कर्म करने का ही अधिकार है, फल पर हमारा अधिकार नहीं है।[39] वास्तव में "हम सर्वशक्तिमान की संकल्प वीणा के तार हैं, हम आगे और पीछे ले जाने वाले कार्यो से अनभिज्ञ हैं। अतः हमें केवल साधन के ज्ञान से ही संतुष्ट रहना चाहिए और यदि ये शुद्ध है, तो हम निर्भयतापूर्वक साध्य का ख्याल छोड़ सकते है।"[40] साध्य के ज्ञान रहने पर भी यदि हम साधन से अनभिज्ञ हैं तो साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः गांधी कहते हैं कि "मैं अपना सम्बन्ध मुख्यतः साधन के संरक्षण और उनके प्रगतिशील व्यवहार से ही रखता हूँ। मै जानता हूँ कि यदि हम उनका ख्याल करेंगे, तो लक्ष्य की सिद्धि निश्चित् है। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि हमारी लक्ष्य की दिशा मे प्रगति साधन की पवित्रता के अनुपात में होगी।"[41]

गांधी प्रकारान्तर से सत्यकार्यवाद में विश्वास रखते हैं। जिसके अनुसार असत् से सत् का उत्पन्न होना असम्भव है। अतः गलत साधन से उत्पन्न साध्य की कल्पना ही व्यर्थ है। वे कहते है–"मैं कितनी ही योग्य प्रेरणा के प्रति सहानुभूति क्यों न रखूँ और इसकी प्रशसा क्यों न करूँ, लेकिन हिंसक साधन का विरोधी हूँ, चाहें उससे उत्तम से उत्तम साध्य क्यों न सिद्ध हो। अनुभव मुझे अटूट विश्वास भी दिलाता है कि स्थायी शुभ असत्य और हिंसा से कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।"[42] तर्क के लिए यह कहा जा सकता है कि साध्य की प्राप्ति का यह आवश्कता से अधिक लम्बी राह है, परन्तु गांधी के लिए यह सबसे

छोटी राह है।[43] वस्तुत: साध्य की सफलता और विकलता हमारे हाथ में नहीं है। अत: हमारे लिए उत्तम कार्य करना ही वांछनीय है। अन्त में वहीं होगा जो ईश्वर चाहेगा।[44]

गांधी साधन और साध्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते है। वास्तव में ये दोनों सापेक्ष पद है, अत: कभी साधन साध्य और कभी साध्य साधन बन जाते है।[45] बीज और वृक्ष की भॉति साध्य और साधन का भी अटूट सम्बन्ध है। उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में लिखा है कि "आप मानते हैं कि साधन और साध्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बहुत बड़ी भूल है। इस भूल के कारण जो लोग धार्मिक कहलाते हैं, उन्होंने घोर पाप कर्म किये है। यह तो धतूरे का पौधा लगाकर मोगरे के फूल की इच्छा करने जैसा हुआ है। मेरे लिए समुद्र पार करने का साधन जहाज ही हो सकता है। अगर मैं पानी में बैलगाड़ी डाल दूँ, तो वह गाड़ी और मैं दोनों समुद्र के तले पहुँच जायेगें। शैतान को भजकर मै ईश्वर भजन का फल पॉऊ, यह कभी नही हो सकता। इसलिए यह कहना कि हमें तो ईश्वर को ही भजना है, साधन भले शैतान हो, बिल्कुल अज्ञान की बात है। जैसी करनी वैसी भरनी।[46]

वस्तुत: वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से साध्य साधन से भिन्न नहीं, उसी का घनीभूत रूप है। साधन ही साध्य में रूपान्तरित होता है। दोनों में अभेदभाव है। इसलिए जीवन की जितनी प्रवृत्तियां है; सब में केवल अहिंसा को संघटित करके ही हम अपनी मंजिल पर पहुँच सकते है।[47] मनोवैज्ञिनक दृष्टि से विचार करने पर भी साधन की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। मानव के जीवन पर साध्य का ही नहीं साधन का भी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि साधन और साध्य दोनों एक ही मानसिक परिस्थिति के अविभाज्य अंग हैं।[48] प्रो0 रामजी सिंह के अनुसार नैतिक कर्मवाद में यदि कर्म के अनुसार फल आवश्यक है, तो साध ान के अनुरूप साध्य कैसे नहीं हो सकता?[49] इससे यह सिद्ध होता है कि साधन और साध्य में अवियोज्य सम्बन्ध है। एक का दूसरे से अलग करना, बुद्धि और विचार के साथ हिंसा है।[50] प्रो. रामजी सिंह के अनुसार अनैतिक साधनों के आधार पर प्राप्त सफलता सच्ची नहीं क्योंकि इसमे तो हम अनैतिकता की विजय और नैतिकता की पराजय स्वयं स्वीकार कर लेते हैं।[51]

यह सच है कि गलत साधन के प्रयोग करने से केवल साध्य ही नहीं साधक भी भ्रष्ट हो जाता है। नैतिक साधनों के प्रयोग करने से मानव की आत्मा पवित्र होती है, हृदय महान बनता है। पवित्र साधनों का उपयोग ही अपने आप में दिव्य पुरस्कार है। इसलिए गांधी कहते है- "सच्ची और सम्पूर्ण साधना ही सफलता या आत्यंकि विजय है।"[52] गांधी

का यह दृढ़ विश्वास है कि जो तलवार के बल पर प्राप्त किया जाता है वह तलवार के बल पर समाप्त भी होता है।[53] आचार्य विनोवा और पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी गांधी की उपरोक्त मान्यता के प्रबल समर्थक थे। विनोवा के अनुसार- "साधन की जहाँ पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्य का दर्शन होता है। इसलिए साधन और साध्य का भेद भी काल्पनिक है। साधनों से साध्य हासिल होता है- इतना ही नही बल्कि उसका रूप भी साधनों पर निर्भर रहता है।"[54] साध्य के सम्बन्ध में हर व्यक्ति अपने-अपने को श्रेष्ठ मानता है। अतः वह उतना मूल्यवान नहीं है जितना साधन।[55]

अत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि जिस साध्य को हम अपने सामने रखते है और उसे प्राप्त करने के लिए जिन साधनों को अपनाते है, उनमें हमेशा एक नजदीकी और घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यदि साध्य सही भी हुआ, किन्तु उसे प्राप्त करने के साधन गलत हुआ तो इससे साध्य विकृत हो जायेगा या हम गलत दिशा मे भटक जायेगें। इस तरह साध्य और साधन घनिष्ठ और अभिन्न रूप से जुड़े हुए है और इन्हें एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता। निःसंदेह, यह एक ऐसा सबक है जो कितने ही महान पुरूष हमें अतीत से सिखाते आ रहे है लेकिन दुर्भाग्य से हम इसे शायद ही कभी याद रखते हों। अतएव सत्याग्रह एवम् स्वदेशी को न तो स्वराज्य से पृथक् किया जा सकता है और न ही स्वराज्य की परिकल्पना सत्याग्रह एवम् स्वदेशी के बिना सम्भव है। ये तीनों ही अवधारणायें परस्पर पूरक एवम् एक दूसरे में समाविष्ट हैं।

सन्दर्भ स्रोत

1. सेठी जयदेव, 'गांधी की प्रांसगिकता', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979, पृ. 47।
2. वही, पृ. 48 ।
3. गांधीजी, (अनु.) अमृतलाल ठाकोरदास नाणावती, 'हिन्द स्वराज्य', सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, 1989 पृ. 94 ।
4. हरिजन, 27-5-39, पृ. 143 ।
5. हरिजन, 27.5.39 पृ. 144 ।
6. गांधीजी, (सग्राहक), हरिप्रसाद व्यास, 'ग्राम स्वराज्य', नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1989, पृ. 6 ।

7. गाबा, ओमप्रकाश, 'राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा', मयूर पेपर बैक्स, 1996, पृ. 413।

8. हरिजन, 25-3-39 ।

9. यंग इण्डिया, 8-1-25 ।

10. यंग इण्डिया, 26-12-1924 ।

11. 'सुमन' रामनाथ (सं.), 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन, भवानी कुटीर, इलाहावाद, 1967, पृ. 15 ।

12. सिंह रामजी, 'गांधी विचार' (दर्शन, धर्म, राजनीति और अर्थनीति) मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, पृ. 63 ।

13. सेठी जयदेव, 'गांधी की प्रासंगिकता', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979, पृ. 73।

14. वही, पृ. 52 ।

15. हरिजन, 2-1-37 पृ. 374 ।

16. सिंह रामजी, 'गांधी विचार', मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 1995, पृ. 120 ।

17. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 336 ।

18. सिंह रामजी, 'गांधी विचार', मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, पृ. 125 ।

19. वही, पृ.123 ।

20. वही, पृ. 121 ।

21. गांधीजी (संग्राहक), हरि प्रसाद व्यास, 'ग्राम स्वराज्य', नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1998, पृ. 62 ।

22. स्पीचेज एण्ड राइटिंग ऑफ महात्मा गांधी (सं.), जी.ए. नटेसन, मद्रास, 1917, पृ. 336 ।

23. सिंह रामजी, 'गांधी विचार', मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, पृ. 132 ।

24. अब्दुल कलाम, ए.पी.जे. (अनु.) अरूण तिवारी, 'तेजस्वी मन', प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पृ. 13 ।

25. वही, पृ. 13 ।

26. वही, पृ. 11 ।

27. सिंह रामजी, 'गांधी विचार', मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, पृ. 124 ।

28. 'सुमन' रामनाथ (सं.), 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद 1967 पृ. 629 ।

29. सिंह रामजी, 'गांधी विचार', मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 1995, पृ. 64 ।

30. सुमन रामनाथ (सं.), 'सत्याग्रह', पृ. 629 ।

31. सिंह रामजी, 'गाँधी विचार', मानक पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, 1995, पृ. 126।

32. वही, पृ. 123 ।

33. भावे, विनोबा, 'स्थितप्रज्ञ दर्शन', सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1963. पृ. 29 ।

34. सिंह दशरथ, 'गाँधीवाद को विनोबा की देन', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, 1975. पृ. 291 ।

35. वही, पृ. 292 ।

36. यंग इण्डिया, 17.7.24, पृ. 236 ।

37. हरिजन, 13.7.47 पृ. 232 ।

38. यंग इण्डिया, 17.7.24, पृ. 236 ।

39. हरिजन, 18.8.40, पृ. 254 ।

40. द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, वाल्यूम 6, पृ. 150-51 ।

41. बोस, एन. के., 'सेलेक्शन्स फ्रॉम गांधी', पृ. 36-37 ।

42. यंग इण्डिया, 11.12.24, पृ. 406 ।

43. बोस, एन., के., 'सेलेक्शन्स फ्रॉम गांधी', पृ. 36-37 ।

44. हरिजन, 12.1.47, पृ. 490 ।

45. यंग इण्डिया, 26.12.24, पृ. 424 ।

46. गांधी महात्मा, हिन्द स्वराज्य (अनु.), अमृतलाल ठाकोरदास नाणवटी, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1989. पृ. 65 ।

47. 'सुमन' रामनाथ (सं.), 'सत्याग्रह', गांधी साहित्य प्रकाशन, भवानी कुटीर इलाहाबाद, 1967, पृ. 19-20 ।

48. सिंह रामजी, "साध्य-साधन विवेक", आधुनिक युग में गाँधी विचार की सार्थकता, भागलपुर वि0 वि0 गाँधी शतावार्षिकी समिति, 1968, पृ. 41 ।

49. उपरोक्त, पृ. 41 ।

50. उपरोक्त पृ. 40 ।

51. वही, पृ. 43 ।

52. बोस, एन. के., 'सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी', पृ. 30 ।

53. हरिजन, 2.9.39, पृ. 260 ।

54. भावे विनोबा, 'सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र', पृ. 17 ।

55. उपरोक्त, पृ. 17 ।

* * * * * * * *

षष्ठम् अध्याय

निष्कर्ष

बीसवीं शताब्दी को यदि हम एक कल्प या युग कहें तो इस शताब्दी के कल्प पुरूष महात्मा गांधी हैं। गांधीजी ने हमें प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ दिया ही है किन्तु विश्व के प्रति उनकी सबसे बड़ी देन 'सत्याग्रह' की अवधारणा है। इसमें व्यक्ति की चेतना की स्वतन्त्रता और समाज का हित दोनों सुरक्षित रहते है। इसमें व्यक्तिवादी एवम् समाजवादी दोनों जीवन दृष्टियों का समन्वय है। यह भी कहा जा सकता है कि इसमें व्यक्ति एवम् समाज के हित परस्पर भिन्न रहते ही नहीं। इसमें शस्त्र बल वाली सेना के गुण तो सव पाये जाते हैं, किन्तु इसके दोष इसमें नहीं। सत्याग्रह मानव-मानव के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच से अविश्वास एवम् भय की स्थिति का अन्त कर देता है। यह पद्धति एक ओर व्यक्ति का संस्कार करती चलती है तो दूसरी ओर स्वयं उत्पीड़न या शरीर बल का प्रयोग किये बिना समूह का समाज का संस्कार करके अन्याय का निवारण करने की अद्भुत क्षमता रखती है। इस प्रकार सत्याग्रह एक ओर श्रेष्ठ, सरल, निष्कपट, नि:स्वार्थ, आत्मभावप्रधान जीवन बिताने की अनुशासन श्रृंखला है और दूसरी ओर वह समूहगत, समाजगत अन्यायों के निवारण का उपाय। वस्तुत: जहां भी दबाव है, भय है, हिंसा है, शोषण है फिर चाहे वह व्यक्तिगत हो या समूहगत, वहीं सत्याग्रह की उपयोगिता है। जगत् को आज तक प्राप्त अन्याय-निरोध का जो एक ही उपाय युद्ध था, उसका एक 'नैतिक प्रतिमान' सत्याग्रह के रूप में हमें मिला।

हजार वर्षो के युद्ध के इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि युद्ध से युद्ध का अंत होता ही नहीं, केवल प्रतिपक्ष थोड़े समय के लिए दबा दिया जाता है और समय पाकर उस रूद्ध हिंसा का भयंकर विस्फोट होता है। इस शस्त्र-युद्ध में दोनों पक्षों की हानि होती है, भयंकर क्षय होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से युद्ध एक प्रकार का सामाजिक उन्माद है। उन्माद के बिना, सहज विवेक के स्थिर रहते, युद्ध सम्भव ही नहीं हैं। इसलिए युद्ध से जहां एक ओर समाज में एक क्षणिक ऊर्जा आती है, वहीं उसका नैतिक स्तर, निश्चित रूप से गिर जाता है। वर्तमान में युद्ध की तैयारी इतनी व्ययसाध्य हो गयी है कि सैनिक व्यय के बोझ से ही विश्व की कमर टूट रही है। समाज उसके बोझ से कराह रहा है। फिर भी परम्पराजन्य दीर्घकालिक अभ्यास के कारण और भयवश हम इस असहनीय स्थिति को बनाये हुए है। जिसे दवा के रूप में ग्रहण किया है, वही विष बनकर मार रहा है। युद्ध

में तो लोग बाद में मरते हैं, परन्तु युद्ध के लिए जो विनाशक तैयारियां होती हैं, उनमें समाज कण-कण, इंच-इंच मरता है। बच्चों को पोषण नहीं मिलता, शिक्षण की क्षति होती है, अन्नोत्पादन के स्त्रोत सूख जाते हैं, निर्माण की योजनाएं उपेक्षित होती हैं, परन्तु अविश्वास एवम् भयजन्य हिंसा तथा सैनिकता की परम्परा चलती रहती है। यह एक प्रकार का आत्मसंहार ही है। युद्ध की सर्वविनाशकारी विभीषिका की जगह सत्याग्रह का तरीका ऐसा है कि इसमें व्यय बहुत कम होता है, शक्ति कम खर्च होती है, प्राणनाश की सम्भावना बहुत कम होती है, समाज पर भार कम पड़ता है, सामान्य जीवन क्रम भंग नहीं होता, विपक्षी के विनाश की बात ही नहीं होती, उल्टे उसके प्रति सद्भावना बनी रहती है। लड़ाई उससे नहीं उसके दुष्कृत्य एवम् अनीति से होती है। इसमें विनाश की क्रिया की अपेक्षा निर्माण की प्रक्रिया ही अधिक तीव्र एवम् गतिमान रहती है। क्योंकि इसमें संघर्ष प्रतिपक्ष के हृदय परिवर्तन के लिए है। इसमें अधिकार नहीं, त्याग की भावना ही प्रधान है। गांधीजी ने सभी सत्याग्रह सर्वकल्याणकारी, सर्वोदय प्रेरित, समन्वय बुद्धि से ही चलाये।

जहां तक क्रान्ति व सामाजिक परिवर्तन की पद्धति के रूप में सत्याग्रह का प्रश्न है; मेरा मानना है कि अहिंसा क्रान्ति व सामाजिक परिवर्तन के लिए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से सर्वाधिक वांछनीय है। हिंसा से क्रान्ति व सामाजिक परिवर्तन का विपरीत सम्बन्ध है। हिंसा या जोर जबर्दस्ती से हम किसी के विचारों मान्यताओं या मूल्यों को बदल नहीं सकते। बल्कि उसकी प्रतिक्रिया होगी और उसे वह अन्तरात्मा से अस्वीकार करेगा। इसीलिए जितनी ही ज्यादा हिंसा होगी, उतनी ही कम क्रान्ति या सामाजिक परिवर्तन होगा। हिंसा अस्थायी रूप से तो अच्छा दीखता है, उसका लाभ तो तात्कालिक होता है लेकिन उससे जो नुकसान होता है वह स्थायी होता है। हिंसक क्रान्ति विशेषकर विघातक, विध्वंसक एवम् निषेधात्मक होने के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण एवम् सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए अनुकूल नहीं है। वास्तव में हिंसा से हिंसक राज्य ही आयेगा और हिंसा का अंत हिंसा में ही होगा। हिंसक क्रान्ति वास्तव में इतिहास के सत्यों एवम् मानव स्वभाव का सही अध्ययन नहीं करती इसलिए इसमें नैतिक एवम् आध्यात्मिक आधारों की उपेक्षा हुई। इस तरह हम कह सकते है कि समाज परिवर्तन में हिंसा का अनुप्रवेश अमानवीय एवम् अनैतिक तो है ही, साथ ही जनतन्त्र, व्यक्तिगत स्वातन्त्रय, जन अभिक्रम और स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए अशुभ एवम् अहितकर है। बुरे साधनों से अच्छे साध्य की प्राप्ति एक मृगमरीचिका है। वस्तुतः चाहे राजनीति हो या शासनतन्त्र, शिक्षण हो या खेल, अर्थ या व्यापार सब में

वर्तमान में मानवता के समकक्ष विद्यमान युद्ध, हिंसा, आतंकवाद, आणविक अस्त्रों से सर्वत्र सृष्टि के विनाश का प्रश्न है इसलिए समाज संरचना के लिये अहिंसा व सत्याग्रह का कोई विकल्प है ही नहीं। हम या तो अहिंसा के आधार पर समाज के पुर्नगठन का कार्य करें अथवा मानवता के विनाश का वरण करें। अतः आज गांधी जी की सत्याग्रह की अवधारणा एक अपरिहार्य सामाजिक आवश्यकता है। अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि गांधी जी भले ही सत्याग्रह शास्त्र के आद्य आचार्य माने जाय किन्तु उन्हें हम कभी अन्तिम आचार्य न कहें। गांधी जी को अन्तिम आचार्य कहने से प्रगति रूक जायेंगी और समाज में जड़ता आयेगी एवम् हम सत्यनिष्ठ रहने की जगह वचननिष्ठ, ग्रन्थनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ बनगें।

स्वदेशी की उपयोगिता व प्रासंगिकता की जांच-परख विशाल व कुटीर उद्योगों, आधुनिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी, उपभोक्तावादी संस्कृति व अतिभौतिकतावाद, पर्यावरण व पारिस्थितिकी असंतुलन, राष्ट्रवाद व अन्तर्राष्ट्रीयता, नवउपनिवेशवाद व भूमण्डलीकरण के संदर्भ में की गयी है। जहां तक स्वदेशी व टेक्नोलॉजी का प्रश्न है तो सामान्यतः टेक्नोलॉजी के लाभदायक पहलुओं के बारे में अर्जित ज्ञान अकाट्य माना जाता है और स्वदेशी को एक प्रतिगामी अवधारणा के रूप में देखा जाता है। यह सिद्ध किया जाता है कि आर्थिक संवृद्धि और टेक्नोलॉजी सुधार में घनिष्ठ सम्बन्ध है, श्रम और पूंजी से अधिक लाभ होने लगता है या टेक्नोलॉजी के कारण वस्तुओं के उत्पादन में खर्च कम होता है। विकसित देशों में उत्पादन क्षमता में जो वृद्धि हुयी है उसका आधा भाग तकनीक में परिवर्तन के कारण माना जाता है, लेकिन टेक्नोलॉजी ने मनुष्य, प्रकृति और समाज के सम्बन्धों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है। इनमें विविध प्रकार के जटिल सम्बन्ध होते हैं। प्रकृति पर मनुष्य का अधिकाधिक नियंत्रण हो गया है और मनुष्य के लाभ के लिये प्राकृतिक शक्ति के उपयोग की सम्भावनाओं को 'परिस्थितिजन्य' कहा जाने लगा है। यह कहा जाता है कि टेक्नोलॉजी ने मानवजातीय, क्षेत्रीय और सांस्कृतिक सीमाओं को तोड़ डाला है और समस्त मानव जाति को एक परिवार के रूप में एक दूसरे से मिला दिया है। यह भी कहा जाता है कि टेक्नोलॉजी के कारण विभिन्न सामाजिक पद्धतियां आपस में मिलकर एक हो गयी हैं जो इसके बिना आपस में एक दूसरे से टकरा सकती थी, जैसा कि पहले हुआ करता था जबकि टेक्नोलॉजी कम विकसित थी या राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय सीमाओं में ही सीमित थी। चूंकि टेक्नोलॉजी औद्योगिक या अन्य कलाओं में विज्ञान का उपयोग है इसलिए यह आशा

की जाती है कि इससे सभी का ध्यान विज्ञान की ओर आकृष्ट हो जायेगा। यह तर्क दिया जाता है कि विज्ञान में मनुष्य के आन्तिरक और वाह्य संसार की समस्या उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि यह धर्म या अन्य तत्वमीमांसा के क्षेत्र में है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने उस अन्ध विश्वास को समाप्त कर इन दोनों में एक सम्वन्ध स्थापित कर दिया है जो मनुष्य को विरासत के रूप में तभी से मिला हुआ है, जब से वह प्रकृति के संसर्ग में आया या जब से शासक वर्ग ने धर्म को अपनी सत्ता का साधन बनाकर शोषण करना प्रारम्भ कर दिया था। यह भी विश्वास किया जाता है कि टेक्नोलॉजीय विकास में अधिकांश वर्गो का सहयोग होने से समाज में अनिवार्य रूप से समानुरूपता स्थापित हो जाती है। जिन देशों में टेक्नोलॉजी का कम विकास हुआ होता है उन देशों में इसी तर्क के आधार पर समाज के विभिन्न वर्ग के लोग परिवर्तन के प्रति उत्सुक नहीं रहते और सामाजिक व्यवस्था में कट्टरता बनी रहती है।

वस्तुतः यह एक विरोधात्मक स्थिति है कि जो लोग टेक्नोलॉजी से होने वाले उक्त प्रकार के लाभ के बारे में एकमत है वे यह भी अनुभव करते हैं कि मनुष्य की अन्य आवश्यकतायें और टेक्नोलॉजी के कारण उत्पन्न समस्यायें टेक्नोलॉजी या विज्ञान के माध्यम से नहीं सुलझायी जा सकती। आधुनिक टेक्नोलॉजी का यह एक दोरूखा रूप है। यद्यपि इसका सृजन मनुष्य द्वारा ही हुआ है, तो भी इसमें मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। टेक्नोलॉजी उसकी सहायता करती है और विनाश भी, इससे उसे काम करने में मदद मिलती है लेकिन इससे वह मशीन बन जाता है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को इन सब पहलुओं का बिल्कुल ही पता नहीं था। लेकिन अभी तक टेक्नोलॉजी का लाभ पक्ष ही प्रधान था जबकि अब इसका हानिकारी पक्ष प्रधान हो गया है। चूंकि टेक्नोलॉजी का सृजन मनुष्य द्वारा हुआ है इसलिए मनुष्य की सृजन शक्ति ही आंशिक रूप से टेक्नोलॉजी के माध्यम द्वारा और अधिकतर इस पर निर्भर न रहकर इसके हानिकारी पक्ष को नियंत्रित कर सकती है। स्पष्ट ही ऐसे लाखों लोगों के उत्थान में टेक्नोलॉजी को महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है जो गरीबी में अपनी जिंदगी बिता रहे हैं। लेकिन हमें टेक्नोलॉजी के दृष्टि से विकसित देशो के अनुभव से दो शिक्षाएं ग्रहण करनी चाहिए- पहली, मनुष्य को कभी भी टेक्नोलॉजी का गुलाम नहीं बनना चाहिए और दूसरी यह कि मनुष्य को ज्ञान की अपनी खोज और पर्यावरण पर नियंत्रण समाप्त नहीं कर देना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही पर्यावरण संतुलन बनाये रखना चाहिए।

पिछले दशकों में तेजी से टेक्नोलॉजी के विकास के कारण जो समस्यायें उत्पन्न हुयी हैं उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार में टेक्नोलॉजी को पूजा की वस्तु बना दिया गया है, जो कभी मनुष्य के हाथों में एक साधन के रूप में थी वह तेजी के साथ मनुष्य को मशीन के रूप में ढालती जा रही है और मनुष्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। हम इसे टेक्नोलॉजी का द्वन्द्ववाद कह सकते हैं। टेक्नोलॉजी मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये प्राकृतिक साधनों के रूपान्तर का एक साधम रही है और इसे इसी रूप में रहना चाहिए। यही कारण है कि हम आजकल अक्सर ऐसे वाक्याशों को सुनते हैं जैसे 'मनुष्य- प्रधान टेक्नोलॉजी' या 'टेक्नोलॉजी का मानवीयकरण'।

जनसंख्या में अधिकाधिक वृद्धि होने, लोगों में अपने जीवन स्तर को ऊँचे से ऊँचा बनाने की होड़ होने और टेक्नोलॉजी प्रगति होने से अपने आप प्राकृतिक साधनों का तेजी से विनाश हो रहा है। इसीलिए संसार भर में लोग यह स्वीकार करने लगे हैं कि टेक्नोलॉजी के अगले चरण में सबसे पहले पर्यावरण संतुलन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। तकनीकी विकास के बारे में विचार करते हुए हमें उत्पादन में वृद्धि को ही मुख्य तत्व नहीं मानना चाहिए बल्कि हमें पर्यावरणीय और सामाजिक सम्बन्धों और इसके साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक और सास्कृतिक कल्याण में टेक्नोलॉजी के योगदान का भी ध्यान रखना चाहिए। गांधी जी यह बात बराबर कहा करते थे कि प्रकृति पर मनुष्य का जितना अधिकार होता जा रहा है उतना ही अधिक वह प्रकृति से दूर होता जा रहा है। आजकल पर्यावरण के संदर्भ में जो आन्दोलन छिड़ा हुआ है उसका यहीं मूलाधार है। लेकिन गांधी जी इसके साथ ही मनुष्य और उसके प्राकृतिक वातावरण के बीच आपास के सम्बन्ध बनाये रखने पर बल देते थे। जिससे मनुष्य को शोषण होना समाप्त हो जाये जो प्रकृति के विनाश का मूल कारण है। वस्तुत: गांधी जी विज्ञान के दर्शन की अपेक्षा मनुष्य के दर्शन के प्रति अधिक चिंतित थे। विज्ञान का चाहे जो भी दर्शन हो उसे मनुष्य के दर्शन का ही भाग होना चाहिए।

आज विश्व में सबसे बड़ा अन्तर्विरोध यह है कि जहां विभिन्न देश आर्थिक व तकनीकी क्षेत्रों में अधिक से अधिक रूप में एक दूसरे पर आश्रित होते जा रहें हैं वहीं आर्थिक और टेक्नोलॉजीय साधन कुछ ही देशों तक सीमित है। इस पर कुछ राष्ट्र राज्यों का कड़ा नियंत्रण है और वह अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहते हैं। इसलिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच टेक्नोलॉजी दूरी ही नहीं बढ़ती जा रही है बल्कि टेक्नोलॉजी का स्थानान्तरण

गरीब राष्ट्रों के शोषण का साधन बन गया है। वस्तुत: आधुनिक प्रौद्योगिकी एक ही लक्ष्य है- 'अधिकाधिक आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति के लिये अधिकाधिक शोषण' चाहे वह प्राकृतिक सम्पदाओं का शोषण हो या विकसित राष्ट्रों क द्वारा विकासशील राष्ट्रों का शोषण अथवा मालिकों द्वारा श्रमिकों का शोषण हो। आज मानव गौण हो गया है व्यवस्था प्रमुख हो गयी है। भौतिकवाद ही हमारा ईश्वर है तथा आवश्यकताओं की वृद्धि के राग में रत रहना हमारी जीवन साधना बन चुकी है। आवश्यकताओं की वृद्धि और उपभोक्ता संस्कृति का विकास प्रगति सूचकांक बन गया है।

उपभोक्तावादी संस्कृति इस मान्यता पर आश्रित है कि प्रकृति की रचना केवल मनुष्य मात्र के उपभोग के लिए ही है। उसी के अनुरूप विज्ञान और तकनीकी का अन्वेषण कर प्रकृति पर नियंत्रण और विजय की पाने की कोशिश की जा रही है, किन्तु इसके दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। एक तरफ जहां नश्वर प्राकृतिक संसाधन द्रुतगति से समाप्त होते जा रहे हैं वहीं दूसरी तरफ पर्यावरण प्रदूषण, पारिस्थितिकी असंतुलन जैसी गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हुयी हैं। यदि उपभोक्तावादी संस्कृति पर अंकुश नही लगा तो इसका दुष्परिणाम यही होगा कि विश्व का विनाश परमाणु युद्धों से न होकर वरन् पारिस्थितिकी असंतुलन व पर्यावरणीय संकट से स्वत: हो जायेगा। फिर न तो हम रहेंगे और न हमारा भोग। यह सच है कि मनुष्य प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग का वास्तव में उतना ही हक रखता है जितना कि पारिस्थितिकी संतुलन और उसके स्वरूप को बनाये रखने के लिए आवश्यक है क्योंकि प्रकृति के पास मानव मात्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन हैं किन्तु उसके असीमित भोग के लिए नहीं। यह एक व्यक्ति के लोभ को भी पूरा करने में अक्षम है। उपभोक्तावादी संस्कृति के अन्तर्गत गति तो है किन्तु प्रगति नहीं। व्यक्ति स्वयं यह नही जानता कि उसका लक्ष्य क्या है? आज जरूरत इस बात की है कि प्रकृति के साथ सामन्जस्य स्थापित किया जाय, उसका मर्यादित दोहन किया जाय। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपनी भोग-विलास व उपभोक्तावादी प्रवृति पर अकुंश लगाये यह नियंत्रण स्वदेशी के अन्तर्गत निहित जीवन मूल्य-आत्म संयम की अवधारणा-को जीवन पद्धति के रूप में अपनाने से ही सम्भव है।

वस्तुत: आधुनिक आर्थिक विकास की अवधारणा के पीछे भौतिकवादी जीवन दृष्टि है जो जड़ और चैतन्य के द्वैतवाद, न्यूटन की भौतिकी विश्व व्यवस्था की यांत्रिक अवधारणा एवं डार्विन के योग्यतम की रक्षा के सिद्धान्त से प्रभावित है। किन्तु वीसवीं शताब्दी की

अद्यतन भौतिकी के अन्तर्गत क्वानटम मेकानिक्स एवं सापेक्षतावाद के अनुसार विश्व को एक समग्रता में देखने की जरूरत है। विश्व की इस समग्रता में जड़, उद्‌भिज, पशु-पक्षी एवं मनुष्य पृथक्-पृथक् होकर भी पृथक् नहीं हैं। वस्तुतः हमें विकास की अवधारणा को सम्यक रूप से समझना होगा। विकास महज भौतिक व आर्थिक समृद्धि नही, वर्तमान और सीमित मानवता का हित नहीं वरन् विकास तो मानव मात्र के जीवन की गुणवत्ता में सुधार है, सभी व्यक्तियों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति है, संतुलित सामाजिक व्यवस्था है। विकास का सम्यक अर्थ सर्वांगीण, संतुलित एवं समग्र विकास से होना चाहिए। इसमें न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास भी सम्मिलित है। वास्तव में जो इस संसार में आकर भी सांसारिक उन्नति के लिए प्रयास नहीं करते वे अंधेरे में है पर उससे भी ज्यादा अंधेरे में वे हैं जो सांसारिक आकांक्षाओं में ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मान लेते हैं। वस्तुतः एक आयामी मानव अपूर्ण है। उसे तो सभी विधाओं एवं कलाओं से परिपूर्ण होना चाहिए।

अतः आज यदि हमें मानवता व सृष्टि को विनाश से बचाना है और सच्चे विकास की ओर बढ़ना है तो सभ्यता के वैकल्पिक आयाम को अपनाना होगा। स्वदेशी इस नवीन आयाम का पार-पत्र है। स्वदेशी के अन्तर्गत समाहित मूल्य और जीवन शैली- आत्मसंयम, आत्म नियंत्रण, व्रत, सादगी, अपरिग्रह, संतुलित जीवन, भौतिकता व अध्यात्म का समन्वय-कोई पारमार्थिक, पारलौकिक विचार नहीं वरन् वह अस्तित्व की आवश्यकता है। क्योंकि यदि हम उपभोक्ता संस्कृति एवं भोगवादी जीवन दर्शन के अवधारक रहेंगे तो प्रकृति का अभिशाप हमारे विकास को विनाश में परिवर्तित कर देगा।

जहां तक स्वदेशी एवं भूमंडलीकरण की अवधारणा का प्रश्न है तो यह कहा जा सकता है कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में भूमंडलीकरण का विशेष महत्व है। उसमें विचार, मनुष्य और कौशल का मानवता के हित में विस्तार हो जाता है। वह प्रवाह रूप होता है। राष्ट्र राज्य की सीमाएं पार करता हुआ वह प्रवाह वौद्धिक, सामाजिक और आध्यात्मिकता के नए क्षितिज को छूता है। भूमंडलीकरण से राष्ट्र और संस्कृति की सीमाओं के परे विचार की परिधि का विस्तार होता है। वह जब लोगों के बीच दूरी घटाएं और देशों में अंतरनिर्भरता का विस्तार करें तो वह इतिहास का एक ऐसा चक्र पूरा कर रहा होता है जिसे रोका नहीं जा सकता है। इस दृष्टि से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अपहिार्य और हितकर है।

वस्तुतः भूमंडलीकरण की प्रवृत्ति इतनी सरल नहीं, वह यह अत्यधिक जटिल और व्यापक अवधारणा है। इसका सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण करने पर हम ऐतिहासिक तौर पर इसकी दो धाराएं पाते हैं- मानवतावादी और राजनीतिक। पन्द्रवहीं सदी से पहले यह धारा गैर राजनीतिक थी। वह मानवतावादी और आध्यात्मिक प्रक्रिया थी। यह सृष्टि के नियमों के अनुरूप होता है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म का प्रसार अराजनीतिक भूमंडलीकरण का एक उदाहरण है। अपने जीवनकाल में बुद्ध देश से बाहर नहीं गये लेकिन बौद्ध धर्म पूरब में फैला। लाखों गैर भारतीय बौद्ध बने। इसी तरह इसाई और इस्लाम धर्म का प्रसार हुआ। भारत के गणितज्ञों ने शून्य और गिनती की प्रणाली खोजी जिसका यूरोप और अरब में व्यापारियों ने प्रसार किया। इसी प्रकार महात्मा गांधी के न रहने पर भी पश्चिम में उनके अहिंसा सम्बन्धी विचार का प्रसार हुआ और तीसरी दुनियाँ में उदारवाद और समाजवाद की विचारधारा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन का माध्यम बनी। किन्तु इस भूमंडलीकरण और राजनीतिक भूमंडलीकरण में जमीन-आसमान का फर्क है।

भूमंडलीकरण मानवता के ऐतिहासिक विकास के एक चरण के रूप में और एक राजनीतिक प्रोजेक्ट के रूप में अलग-अलग है। राजनीतिक प्रोजेक्ट के रूप में यह विश्व की अर्थव्यवस्था को एक दिशा में मोड़ना चाहता है। वर्तमान भूमंडलीकरण राजनीतिक प्रोजेक्ट ही है। वर्तमान में राजनैतिक भूमंडलीकरण के कई और चेहरे सामने आए हैं उदाहरण के लिए एक चेहरा आर्थिक भूमंडलीकरण का है जिसमें व्यापार और वाणिज्य आता है। दूसरा चेहरा तकनीकी भूमंडलीकरण का है। इन चेहरों में असंतुलन और असंगति है। वस्तुतः भूमंडलीकरण देशज आर्थिक व्यवस्था को उसकी जड़ से हिला देता है। वह कभी-कभी समाज को बांटता भी है। भूमंडलीकरण और सामाजिक ढाँचे का गहरा सम्बन्ध है। बिना तैयारी के आर्थिक भूमंडलीकरण को थोपने से बड़े भयावह नतीजे होते है जैसा कि वर्तमान में दिख रहा है। भूमंडलीकरण को लागू करने से पहले कुछ शर्ते पूरी होनी चाहिए जो सामाजिक है। जैसे समाज व्यवस्था में नैतिक मानदण्ड के उपाय।

साम्राज्यवादी युग शुरू होने के पहले भारत पर सैनिक, राजनीतिक, बौद्धिक और धार्मिक आक्रमण हुए। स्वदेशी के आधार पर उसने इन सबका सामना किया, खास तौर पर दर्शन, रचनात्मक कला और विज्ञान के क्षेत्र में इसने न केवल उससे अपना बचाव किया बल्कि खुद के बहुलतावादी चरित्र को भी मजबूत किया। लेकिन सोलहवीं-सत्रह्वीं सदी के भारतीय शासक ब्रिटिश से मुकाबला करने के लिए इस स्वदेशी ताकत को संगठित करने में

विफल रहें। महात्मा गांधी ने साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया और उसे सभ्यतामूलक चुनौती माना। उसके खिलाफ दो स्तरीय संघर्ष की कल्पना की। पहला कि एक मनोराजनैतिक आन्दोलन खड़ा होना चाहिए जिससे हर भारतीय अपनी हीन ग्रंथियां त्याग सके। ब्रिटिश शासकों के खिलाफ उठ खड़ा हो सके। नागरिक अवज्ञा और असहयोग के आंदोलन से इस लक्ष्य को उन्होंने साधा। दूसरा कि लोगों को अपनी जरूरतों के लिए उन्होंने स्वावलम्बन का रास्ता दिखाया। अपने रचनात्मक कार्यक्रमों को व्यापक बनाकर उन्होंने लोगों को तैयार किया कि वे समानांतर संस्थाएं बनाएं। यह ध्यान देने योग्य है कि ये कार्यक्रम लोगों को मन और संगठन से बलवान बनाने के लिए था। महात्मा गांधी के नजरिये से अगर देखें तो भूमंडलीकरण के खिलाफ सीधी लड़ाई का कोई तुक नहीं है क्योंकि भूमंडलीकरण से उसकी जमीन और उसके ही उपकरण से नहीं लड़ा जा सकता। उससे लड़ने के लिए जरूरी है कि भारत अपनी जमीन पर मजबूती से खड़ा हो। वह समानान्तर समाज बनाए। वही समाज भूमंडलीकरण को व्यर्थ बना देगा। भारत को आत्मनिरीक्षण करना होगा। उसे स्वावलम्बन और स्वदेशी की अपनी परिभाषा करनी होगी। ऐसा करते हुए इस बात की पहचान करें कि कहां भूमण्डलीकरण अब तक नहीं पहुंचा है। उन स्थानों को स्वदेशी का शक्ति केन्द्र बनाना होगा।

गाधी के स्वदेशी कार्यक्रम में अमीर और साधन सम्पन्न लोगों पर जिम्मेदारी अधिक आती है। गरीबों को जीवन की सामान्य जरूरतें मिलनी चाहिए। आम आदमी की उत्पादन में हिस्सेदारी हो। यही स्वदेशी दृष्टिकोण है। आर्थिक विकास का स्वदेशी तरीका भारत के गांवों की वास्तविकता में है। कुछ आलोचकों के अनुसार स्वदेशी का रास्ता दासता की तरफ ले जाता है। इससे तीसरे दुनियाँ की मानसिकता की हीन ग्रन्थि के जीवाणु पैदा होते है तथा यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अराजकता का पर्यायवाची है। किन्तु यह असत्य व भ्रामक है। वस्तुतः स्वदेशी को गलत व संकीर्ण अर्थो में ग्रहण करने के कारण इस पर इस तरह के आक्षेप लगते रहे है। स्वदेशी का अर्थ है अपने पैरों पर खड़ा होना, न कि वह जमीन छोड़ देना जो अपनी है। स्वदेशी हकीकत का सामना भी है और मौजूदा परिस्थितियों के मद्देनजर भविष्य की तैयारी भी। स्वदेशी उस टापू का नाम नहीं है जो समुद्र में अलग-थलग दीखता है। यह समुद्र जैसा ही सर्वग्राही है। आजादी के बाद स्वदेशी चिंतन की धारा संगम में सरस्वती की तरह भूमिगत हो गयी, जबकि उसकी बहुत आवश्यकता थी।

स्वराज्य की संकल्पना की समसामयिक उपयोगिता एवम् प्रासंगिकता की जाँच-परख आजादी की आधी सदी के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। यदि स्वाधीनता संघर्ष और नवजागरण का युग नए भारत की कल्पना और नए समाज के सपनों की रचना तथा संघर्ष का युग था तो आजादी की आधी सदी नए भारत की उस कल्पना और नए समाज के सपनों को साकार करने की तथा संघर्ष के व्यावहारिक प्रतिफलन की आधी सदी के रूप में इतिहास में अपना महत्व रखती है।

वस्तुत: भारत की आजादी के पांच दशकों का इतिहास अनेक जटिल, बहुआयामी और परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं और परिवर्तनों से भरा है। विरासत के रूप में जो 'मेरे सपनों का भारत' की कल्पना हमें मिली थी, जिसका समग्र चित्रण स्वराज्य की अवधारणा के अन्तर्गत अध्याय में किया गया है, उसे आज अपनी समग्रता में फिर से याद करने की जरूरत है। वह ऐसे भारत की कल्पना थी जिसमें सुखी और सम्पन्न जीवन के अवसर सिर्फ शहर और ग्राम के सम्पन्न और शक्तिशाली वर्गो व जातियों तथा पुरूषप्रधान समाज को ही सुलभ नहीं होगें, बल्कि विशाल जनसाधारण के लिए ऐसा स्वराज्य होगा जो उन्हें गरीबी और अभाव, निरक्षरता और अशिक्षा, सामाजिक अन्याय और शोषण तथा राजनीतिक सत्ता के अलगाव से मुक्त करेगा। किन्तु इन समस्याओं से अभी मुक्ति नहीं मिली है। अभी भी गरीबी, अशिक्षा, शोषण, विषमता जैसी समस्यायें पॉच दशकों के परिवर्तनों के फलस्वरूप उभरे नए भारत की संरचना का गंभीर आंतरिक संकट हैं।

भारतीय नवजागरण और स्वतन्त्रता संग्राम की सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि उसने औपनिवेशिक युग के मध्यम वर्ग और विशाल जनसाधारण के बीच के मानसिक अलगाव को दूर किया था। मध्यम वर्ग को जनसंवेदी और जनसेवी बनाया था और उसमें जन के प्रति दायित्व की भावना जगाकर उसको जन के हित में त्याग और संयम की जीवन शैली अपनाने के लिए भी प्रेरित किया था। किन्तु आज की उभरती हुई उत्तर आधुनिक मानसिकता ने मध्यम वर्ग के विरासत में पाये हुए सभी मूल्यों, आदर्शो, और प्रतिबद्धताओं पर प्रश्न चिन्ह् लगा दिया है और मध्यम वर्ग में उग्र व्यक्तिवाद, आत्म संतुष्टि और स्वार्थ की भावनाओं को उभारकर उसके चरित्र को ही एक नए स्वार्थ केन्द्रित ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। वस्तुत: नव मध्यम वर्ग का गांधी युग की प्रतिबद्धताओं से सम्पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद और उसके चरित्र में बुनियादी रूप से परिवर्तन आजादी के पचास वर्षो के बाद की सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्व की घटना है, जो एक नए युग का संकेत देती

है। यह भारत की आंतरिक संरचना में ऐसी दरार और विभाजन पैदा कर देने वाली घटना है, जिसका परिणाम अत्यधिक भयावह हो सकता है।

वस्तुतः भारत में ऐसी विषमता विद्यमान है, जो भारतवासियों को दो ऐसी श्रेणियों में विभाजित करती है, जिनके बीच कोई सम्पर्क नहीं है। यह वह विभाजन है, जो ग्रामीण भारत को जो, अधिकांश भारत है, आधुनिक, शहरी, नौकरशाही और बुद्धिजीवी वर्ग के भारत से अलग करती है। अधिकांश भारतीय गांवों में रहते है। शेष भारत ग्रामीण भारत की तुलना में अत्यन्त छोटा है। यह भारत है- सिविल सर्विस का, लोक तथा राज्यसभा का तथा टाटा विरला जैसे वृहत औद्योगिक-व्यापारिक घरानों का, पंचवर्षीय योजनाओं का, वृहत इस्पात कारखानों का, सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की भूमिका सम्वन्धी बहसों का, अखबारों, हवाई जहाजों, सैनिक शक्तियों, विदेश नीति की वहसों का भारत, मुख्यमंत्रियों, कलकत्ता, मुम्बई, मद्रास के म्यूनिसिपल निगमों का भारत। इस छोटे से भारत में जो अधिक प्रभावशाली व्यक्ति है, वे एक दूसरे से परिचित है। इनकी दुनियां स्वयं अपने में केन्द्रित है, इस हद तक कि बहुत से भारतीय और अनेक विदेशी भी यह समझ बैठते है कि यही सम्पूर्ण भारत है। भारत को समझने में सबसे वड़ी और आम भूल अगर कोई है तो वह यही है। अंत में इस बात का अहसास होता है कि इस छोटे से भारत में जब बहुत कुछ घट रहा हो, तो गांवों के विशाल भारत में शायद कुछ भी नहीं घट रहा होता। लेकिन इस छोटे भारत का सम्मोहन ऐसा है कि लगता है इसके बाद और कुछ देखने और अनुभव करने को बाकी नहीं रहा। यह बात अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि भारत की अधिकांश जनता की भयावह दरिद्रता के बीच भी मध्यवर्गीय नव धनाढ्य भारतीयों ने अपने लिये वे सब सुख सुविधाएं और समृद्ध के उपकरण जुटा रखे है जो अमेरिका जैसे समृद्ध देशों में सम्पन्न और समृद्ध वर्ग को प्राप्त है। इन नव धनाढ्यों में गरीबों के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति और संवेदना का अभाव, उनकी हृदयहीनता का रूख भी उतना चौंका देने वाला है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आजादी के बाद के पचास वर्षो में महानगरीय भारत में नव मध्यम वर्ग का विस्फोटक विकास और उसके चरित्र और चेतना में गुणात्मक परिवर्तन ऐसा युगातकारी परिवर्तन है जिसके सम्भाव्य परिणाम गम्भीर, स्थायी और दूरगामी महत्व के हैं।

स्वातत्र्योत्तर भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या वौद्धिक वर्ग का सामाजिक दायित्व के प्रति निष्क्रियता व उदासीनता और देशज प्रतिभा का समृद्ध तथा विकसित पश्चिमी देशों में

बड़े पैमाने पर पलायन है। यह विचित्र स्थिति है कि एक गरीब अर्द्धविकसित देश के साधनों से पोषण और आधुनिक प्रशिक्षण प्राप्त प्रतिभासम्पन्न युवा का लगातार देश से पश्चिमी देशों को पलायन होता जा रहा है और इसका लाभ अपने देश को नहीं, देश के बाहर विशेषकर पश्चिम देशों को पहुँच रहा है। वर्तमान बौद्धिक व शिक्षित वर्ग की स्थिति औपनिवेशिक भारत के उन भारतीय युवाओं से एकदम भिन्न है जो उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए पश्चिमी देशों में गये थे। स्वाधीनता संग्राम और भारतीय नवजागरण ने उनके मानस पर इतना गहरा प्रभाव डाला था कि वे लौटकर स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल हो गये या विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति आदि के क्षेत्रों से देश की सेवा कर स्वाधीनता की नींव मजबूत करने में संलग्न हो गये। यदि वे विदेश में भी रहे तो वहाँ स्वाधीनता संग्राम के सहायक ही रहे, उसके प्रति उदासीन नहीं। वे औपनिवेशिक प्रशासन या व्यवस्था में उच्च पदों को हासिल करने के प्रलोभन में नहीं पड़े और न पश्चिम के देशों में वहां की समृद्धि का लाभ उठाने के लिए प्रवासी हुए। वस्तुतः औपनिवेशिक मानसिकता यदि भारतीय युवा और शिक्षित वर्ग को देश और उसकी जड़ों से काटने में सक्रिय थी, तो स्वाधीनता संग्राम और नवजागरण इस औपनिवेशिक मानसिकता पर विजय पाने में औपनिवेशिक युग की सीमाओं और अवरोधों के बावजूद समर्थ और कारगर सिद्ध हुआ था।

वस्तुतः पुराने मध्यम वर्ग की तुलना में नव-मध्यम वर्ग आकार और संख्या की दृष्टि से विशाल होते हुए भी यदि राष्ट्र निर्माण और विकास में योगदान की दृष्टि से अक्षम, असमर्थ और आयोग्य सिद्ध हो रहा है तो इसके मूल में यह तथ्य समाहित है कि उनकी जड़ें अपने देश और भूमि से कटती जा रही है और वे अपने देश के जनसाधारण से अलग होते जा रहे हैं। वे पश्चिमी देशों के इस मिथक से अभी भी पूर्ण रूप से मुक्त नहीं है कि पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण ही एशियाई देशों की भविष्य की नियति है। पश्चिम के विकास का मॉडल ही हमारे विकास का मॉडल है। वस्तुतः भारत का नव मध्यम वर्ग अपनी मानसिक स्वायत्तता को खोकर एक नव-औपनिवेशिक मानसिकता का फिर से शिकार हो रहा है। अपनी माटी से लगाव, राष्ट्रीय भावना, आत्म-गौरव और स्वाभिमान के बिना विश्व मानववाद या विश्ववन्धुत्व आधारहीन है। स्थान के बिना देश और देश के बिना विश्व से लगाव मानसिक उपनिवेशवाद का ही एक छद्म रूप है।

स्वराज्य के एजेंडे में राजनीतिक व आर्थिक स्वराज्य के साथ-साथ मानसिक स्वराज्य को एक महत्वपूर्ण लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया था। इस मानसिक स्वराज्य की

परिभाषा अत्यन्त व्यापक रही है। इसके अन्तर्गत पश्चिम के मानसिक दासत्व के साथ देशज रूढ़ियों के मानसिक दासत्व के प्रतिरोध की लड़ाई शामिल थी। ये दोनों मानसिक स्वराज की लड़ाई के दो पहलू है, जो एक दूसरे से अलग नहीं। धर्म, जाति, लिंग, भाषा को एक प्रतिगामी नहीं, अग्रगामी अभियान बनाने की शुरूआत मानसिक स्वराज्य को व्यापक अर्थ में परिभाषित करने से ही हो सकती है। स्वाधीनता संघर्ष के युग में स्वदेशी का विपर्याय विदेशी नहीं, औपनिवेशी था। यानी नवजागरण और स्वाधीनता संघर्ष के प्रबुद्ध विचारक उस समस्त विदेशी चिंतन को आत्मसात करने के लिए तैयार थे, जो मुक्ति संग्राम में सहायक हों, जो मानसिक मुक्ति में सहायक हो। वे उन्हीं अवधारणाओं के विरोधी थे, जो मानसिक दासत्व को मजबूत करते थे और सर्वांगीण स्वराज्य के मार्ग के अवरोधक थे। वास्तव मे हमें मानसिक दासता के विरोध की रणनीति में दोनों यानि औपनिवेशिक अवधारणाओं और देशज रूढ़ियों के एक साथ प्रतिरोध पर बराबर जोर देना होगा।

मानसिक स्वराज को हासिल करने में अंग्रेजी के वर्चस्व को गांधीजी ने सबसे बड़ी बाधा माना था। गांधीजी द्वारा उठाये गये इस महत्वपूर्ण समस्या पर भी चिंतन आवश्यक है क्योंकि आज तक हम इससे ग्रस्त हैं। किन्तु यहां पर इस तथ्य का ध्यान आवश्यक है कि भारतीय नवजागरण एवम् स्वाधीनता संघर्ष का वह युग अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं के अंध-विरोध का नहीं, अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व के अस्वीकार को एक सर्जनात्मक और सकरात्मक रूप देने का युग था। अंग्रेजी का नहीं, अंग्रेजी के प्रति गुलामी की मानसिकता का प्रतिरोध करो, यह उस युग का मूल संदेश था। उस युग के प्रबुद्ध विचारक एक तरफ इस मत के समर्थक थे कि अंग्रेजी तथा अन्य पश्चिमी भाषाओं और उन भाषाओं के माध्यम से व्यक्त चिंतन और ज्ञान से यदि भारतीय जनमानस अनभिज्ञ रहेगा और 'स्वदेशी' की अवधारणा को विदेश से प्राप्त होने वाले ज्ञान के अस्वीकार के अर्थ में परिभाषित करेंगे तो ऐसी अनभिज्ञता कूपमंडूक मानसिकता को ही मजबूत करेगी। साथ ही ऐसी दृष्टि की संकीर्णता सर्जनात्मक क्षमता को कभी विकसित नहीं होने देगी। साथ ही वे इस विचारधारा से भी समान रूप से प्रभावित थे कि अंग्रेजी के वर्चस्व ने भारतीय भाषाओं के प्रति हीनभावना को मजबूत कर उनकी अवनति में सहायता की है। उसी हीन भावना के कारण भारत के शिक्षित लोग अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त की हुई जानकारी को तोते की तरह रटने और दोहराने के आदी हो गये है और उस जानकारी को मौलिक सोच का प्रेरणास्त्रोत बनाने की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया है। ऐसा मौलिक चिंतन और सृजन अपनी भाषा

और उसके विकास द्वारा ही सम्भव है। गांधीजी ने अग्रेंजी को त्यागने और उसका बहिष्कार करने का नहीं, अंग्रेजी के ज्ञान के आधार पर स्वभाषा में मौलिक चिंतन और सृजन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। इस कार्यक्रम पर सच्चे मन और पूर्ण संकल्प के साथ आजादी की आधी सदी में अमल नहीं हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हम भले ही स्वराज्य की परिकल्पना को कुछ हद तक साकार किये हो, उसमें हमें आंशिक सफलता मिली हो किन्तु जो व्यापक विजन और अवधारणा इसमें समाहित थी उससे हम आज भी बहुत दूर हैं। स्वराज्य के व्यापक 'विजन' और कार्यक्रम के मुख्य आधार थे, अनेकता में एकता पर आधारित राष्ट्र निर्माण, आत्मनिर्भरता, न्याय और गरीबी के उन्मूलन पर आधारित आर्थिक विकास, समाज के स्तर पर धार्मिक सहिष्णुता और राज्य के स्तर पर धर्मनिरपेक्षता, वैज्ञानिक दृष्टि और नैतिक मूल्यों में समन्वय, लोकतान्त्रिक मूल्यों और तरीकों पर आधारित शांतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन, विश्वस्तर पर शांतिपूर्ण सह अस्तित्व एवम् द्वन्द्व और टकराव का बाहर और भीतर शांतिपूर्ण व अहिंसात्मक समाधान। किन्तु स्वाधीनता के पश्चात् इस मुख्य विचारधारा और कार्यक्रम पर राष्ट्रीय सहमति का अभाव रहा है और बहुत ठोस प्रगति नहीं हुई है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि नए समाज, नए भारत आदि का जो सपना हमने देखा था उन सबको गहरा धक्का लगा है। अंखड भारत का सपना देखा भारत विभाजित हो गया। अहिंसा को धर्म मानने वाले भारत की कल्पना की, उसी स्वतन्त्रता संघर्ष में भयानक हिंसा व रक्तपात हुआ। यहां तक कि स्वयं अहिंसा का पुजारी ही हिंसा की भेंट चढ़ गया। इन.सबसे सपनो से मोहभंग अथवा विरक्ति हो गयी। किन्तु यह सम्पूर्ण वास्तविकता नहीं कि कोई भी सपने हमारे पूरे नहीं हुए। यह सतही व आंशिक बोध है। हमारी बहुत सी परिकल्पनाएं साकार हुई हैं। साथ ही अभी हमारे सपने मर नहीं गये हैं। क्योंकि सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना। जो सचमुच स्वप्नद्रष्टा होते हैं, जिनके लिए सपने महज सपने नहीं होते, जिनके सपनों में साधारण जन का दुख-दर्द का अनुभव उनकी आकांक्षाएं उनकी मुक्ति के संघर्ष की ऊर्जा आदि सब निहित होते है, उनके सपने कभी नहीं टूटते, बल्कि उन्हें जो भी आघात लगता है, उनसे सपनों के प्रति उनकी निष्ठा और लगाव और अधिक प्रखर रूप में निखर आता है। भारत विभाजन व हिंसा के उभार के बावजूद गांधी जी का स्वप्न भंग नहीं हुआ था।

वस्तुतः पराजय ओर नैराश्य उन्हीं की मानसिक स्थिति है जिनके सपने सतही होते है, आस्था और अनुभव की गहराइयों से नहीं उपजते। जिनके मन में आदर्श के प्रति सदा दुविधा और संशय रहा है, वही यथार्थ के पहले ही थपेड़ों से झटका पाकर नैराश्य और पराजय की भावना के शिकार हो जाते है। वस्तुतः भविष्य के लिए किसी देश, जाति, समूह या व्यक्ति का यदि कोई सपना अथवा विजन नहीं होता तो उसका ह्रास या उसकी अधोगति निश्चित है। कोई देश, राष्ट्र, समाज या व्यक्ति अक्सर वही बनता है जो वह अपने बारे में सोचता है यदि यह सोचने लगे कि वह कुछ नहीं कर सकता तो वह वास्तव में कुछ भी करने में असमर्थ रहेगा, लेकिन जब उसे यह विश्वास होता है कि वह कर सकता है तो उसमें वह करने की योग्यता भी आ जाती है, जो शुरू में उसके पास नहीं होती। वास्तव में स्वप्न ही विचार बनते हैं और विचार ही कर्म के रूप में हमारे सामने आते हैं। यदि स्वप्न ही नहीं होगें तो क्रान्तिकारी विचार भी जन्म नहीं लेंगे और विचारों के न रहने से कोई कर्म भी सामने नहीं आयेंगे। सपनों के प्रति संकल्पबद्ध होने से बढ़कर कोई ताकत नहीं। अतएव भारत के भविष्य की कुंजी यहीं है कि इस 21वीं सदी के लिए हमारा सपना व लक्ष्य क्या है? अर्थात् विकसित, समृद्धि, समरस, सहिष्णु भारत के निर्माण के लिए हम दृढ़ संकल्प होकर ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वहन करें। ये ही भावी भारत की दशा व दिशा तय करेंगे।

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमान विश्व व मानव समाज को हिंसा, युद्ध, आंतकवाद, निरंकुशतावाद, शोषण, अपराधीकरण, राजनैतिक उपनिवेशवाद से निजात सत्याग्रह पद्धति को अपनाकर ही पाया जा सकता है। यह अपरिहार्य सामाजिक आवश्यकता है और इसे विश्व-व्यापी व्यवहार का सिद्धान्त अथवा समाज व्यवहार का संविधान बनाये जाने की आवश्यकता है। स्वदेशी स्वावलम्बी विकास के लिए जन-अभिक्रम एवं सृजनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए एक जनान्दोलन है। यह नव उपनिवेशवाद, पर्यावरण संकट, पारिस्थितिकी असंतुलन व उपभोक्तावादी संस्कृति पर नियंत्रण स्थापित करने तथा संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था से निजात पाने के लिये एक संजीवनी है। सत्याग्रह एवं स्वदेशी को विचार पद्धति, कार्य पद्धति व जीवन पद्धति के रूप में अपनाकर स्वराज्य की परिकल्पना को साकार किया जा सकता है।

**** ****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्रोत :

गांधी, मोहनदास करमचन्द : आत्मकथा 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग', सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1982 ।

: दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का इतिहास, नवजीनवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदावाद, 1950 ।

: सत्याग्रह मीमांसा, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1955 ।

: सत्याग्रह, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद 1958 ।

: हिन्द स्वराज्य, (अनु.) अमृतलाल ठाकोरदास नाणावती, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, 1989 ।

: मेरे सपनों का भारत, (सं.) सिद्धराज ढड्ढा, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1989 ।

: सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, (अनु.) रामनारायण चौधरी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1948 ।

: अहिंसक समाज की ओर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1955 ।

: डेमोक्रेसी : रीयल ऐण्ड डिसेप्टिव, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद 1961 ।

: कन्सट्रक्टिव प्रोग्राम, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1948 ।

: फ्रॉम यरवदा मन्दिर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद 1955 ।

: मंगल प्रभात, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1997 ।

: सर्वोदय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, 2000 ।

* सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय (कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी) 90 वाल्यूम, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।

* श्रीमन्ननारायण, (सं.) सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी 6 वाल्यूम, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद।

* स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी (गांधीजी के भाषणों एवम् लेखों का संकलन) ।

* श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह समिति प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा सम्पादित पुस्तक कालजयी गांधी; 1995 ।

* तेंदुलकर जी.डी., महात्मा, लाइफ ऑफ मोहनदास करमचन्द गांधी, 8 वाल्यूम, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 1969 ।

* Mahatma Gandhi, Volume I
  The Early Phase' Pyare Lal.
* Mahatma Gandhi, Volume II
  The Discovery of Satyagrah on the Threshold : Pyare Lal
* Mahatma Gandhi; Volume III
  The Birth of Satyagraha From Petitionary to Passive Resistance - Pyare Lal
* Mahatma gandhi, Volume IV
  Satyagraha At work - Sushila Nayar
* Mahatma Gandhi; Volume V
  India Awakened - Sushila Nayar
* Mahatma Gandhi, Volume VI
  Salt Satyagrah, The Watershed- Sushil Nayar
* Mahatma gandhi, Volume VII
  Preparing for Swaraj - Sushila Nayar
* Mahatma Gandhi, Volume VIII
  Final fight for freedom - Sushila Nayar
* Mahatma Gandhi, Volume IX
  The Last Phase - (Part I) - Pyare Lal
* Mahatma Gandhi, Volume X
  The Last Phase - (Part II)- Pyare Lal

द्वितीयक स्रोत

अब्दुल कलाम, ए.पी.जे. : तेजस्वी मन, (अनु.) अरूण तिवारी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 ।

आशीर्वादम् एडी व मिश्र कृष्णकान्त: राजनीति विज्ञान, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2000 ।

उपाध्याय, हरिभाऊ : स्वतंत्रता की ओर, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1961 ।

: गांधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1966 ।

कृपलानी, जे. बी. : महात्मा गांधी, हिज लाइफ एण्ड थाट, भारत सरकार प्रकाशन नई दिल्ली 1970 ।

: नई क्रांति, अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी 1956 ।

ग्रेग, रिचर्ड बी. : गांधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली, 1966 ।

: द पावर ऑफ नान-वायलेंस, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1969 ।

गोविन्दाचार्य, के.एन. : युगानुकूल स्वदेशी, नई दिल्ली, 2001 ।

गुरूमूर्ति, एस. : स्वदेशी एक सार्थक विकल्प, नई दिल्ली, 1948 ।

गाबा, ओ. पी. : राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा मयूर पेपर बैक्स दिल्ली, 1984 ।

चन्द्र, विपिन : भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991 ।

: आधुनिक भारत, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा.लि. नई दिल्ली, 2000 ।

: समकालीन भारत (अनु.) प्रो. ब्रजकिशोर अंशुमाली व द्वारिका प्रसाद चारूमित्र अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स प्रा. लि. नई दिल्ली, 2000 ।

: आजादी के बाद का भारत (1947-2000), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय 2002 ।

चढ्डा, पी. के. : प्रमुख भारतीय राजनैतिक विचारक आदर्श प्रकाशन, जयपुर, 1994 ।

चतुर्वेदी, मधुकर श्याम : प्रमुख भारतीय राजनैतिक विचारक, कालेज बुक हाऊस जयपुर, 1993 ।

जैन, यशपाल (सं.) : अहिंसा और क्षमा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 ।

: अहिंसा का अमोघशास्त्र, सस्ता साहित्य मण्डल, प्रकाशन नई दिल्ली, 1996 ।

: अहिंसा का अमोघशास्त्र, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नई दिल्ली 1996 ।

जोशी, पूरनचन्द : स्वप्न और यथार्थ : आजादी की आधी सदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2001 ।

: अवधारणाओं का संकट, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 1995 ।

जोशी, मु. म. और ठेंगडी, दत्तोपंत : अर्थ या अनर्थ, नई दिल्ली, 1993 ।

जेम्स, डगलस : रिवोल्यूशन थ्रू सोलिच्यूड, गांधी मार्ग अक्टूबर 1971

जार्ज, लेकी : रिवोल्यूशन! वायलेंट एण्ड नान वायलेंट, गांधी मार्ग 1971 ।

टैगोर, रवीन्द्रनाथ : गीतांजलि ।

तिलक, बालगंगाधर : गीता रहस्य ।

दंडवते, मधु : मार्क्स एण्ड गांधी, पापुलर प्रकाशन मुम्बई 1977।

दत्त, रजनी पाम : आज का भारत (अनु.) रामविलास शर्मा, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2000।

दत्त, धीरेन्द्र मोहन : महात्मा गांधी का दर्शन· (अनुवादक) डा. रामजी सिंह, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना 1985 ।

दिवाकर, रंगनाथ : सत्याग्रह मीमांसा, (अनुवादक), बाबूराव जोशी, सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली 1949 ।

दूबे, श्याम प्रसाद : आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएं, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी 1984 ।

दीक्षित, गोपीनाथ : गांधी जी की चुनौती कम्युनिज्म को, अहमदाबाद नवजीवन प्रकाशन मन्दिर 1974 ।

दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2000 ।

देवदत्त : स्वदेशी स्वराज ही क्यो? प्रज्ञा संस्थान, नई दिल्ली, 2002 ।

दादा, धर्माधिकारी : लोकतन्त्र विकास और भविष्य, सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी 1986 ।

: अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी, 1975 ।

: सर्वोदय दर्शन, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी 1979 ।

धवन, गोपीनाथ : पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस अहमदाबाद 1957 ।

: सर्वोदय तत्व दर्शन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली 1951 ।

नागर, पुरूषोत्तम : आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनैतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी जयपुर।

नन्दा. बी.आर. : महात्मा गांधी एक जीवनी (अनुवादक) श्यामू सन्यासी सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नई दिल्ली 2001 ।

नेहरू, जवाहर लाल : राष्ट्रपिता, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, 2000।

नारायण, जयप्रकाश : गांधी एण्ड सोशल रिवोल्यूशन, गांधी मार्ग, अक्टूबर 1970 ।

: समाजवाद से सर्वोदय की ओर, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन काशी 1959।

: लोक स्वराज्य, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी 1999 ।

पटनायक, किशन : विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 ।

प्रसाद, महादेव : महात्मा गांधी का समाज दर्शन (अनुवादक) विष्णुकान्त शास्त्री, हरियाणा साहित्य अकादमी, चन्डीगढ़ 1989 ।

पाण्डेय, जर्नादन : सर्वोदय का राजनीति दर्शन, जानकी प्रकाशन, पटना, 1986 ।

पारेख, भीखू : गांधी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997 ।

पाण्डेय, संगम लाल : गांधी का दर्शन, दर्शन पीठ, इलाहाबाद 1985 ।

प्रभु, आर. के. व राव, यू. आर. : महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुकट्रस्ट दिल्ली 1995 ।

फिशर, लुई : लाइफ ऑफ महात्मा गांधी, हारपर, न्यूयार्क 1957।

बक्शी, एस.आर. : गांधी एण्ड हिज सोशल थॉट, क्राइटेरियन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1986 ।

बंग, ठाकुर दास : असली स्वराज्य, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी 1995 ।

बान्डूरान्ट जे.वी. : द कनक्वेस्ट ऑफ वायलेंस, दि गांधियन फिलासफी ऑफ कन्फिलक्ट, आक्सफोर्ड प्रेस, वर्कले, 1969।

बोस, सुभाष चन्द्र : तरूणाई के सपने, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन 1974 ।

बोस, निर्मल कुमार : सेलेक्शन फ्रॉम गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस अहमदाबाद 1948 ।

: स्टडीज इन गांधीज्म, इंडियन एसोशियेटेड पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड कलकत्ता 1947।

बालसुब्रह्मनियन, आर. (सं.) : गांधियन थॉट, द डा. एस. राधाकृष्णन इंस्टीट्यूट फार एडवान्स्ड स्टडी इन फिलॉसफी, यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास 1981 ।

बंद्योपाध्याय. जे. : सोशल एण्ड पोलिटिकल थॉट ऑफ गांधी, एलाइड पब्लिशर्स बाम्बे, 1969 ।

भावे, विनोबा : स्वराज्यशास्त्र, सर्वसेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी, 2000 ।

: अहिंसक शक्ति की खोज, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी, 1953 ।

: गीता प्रवचन, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी, 1965 ।

: धम्मपद, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी प्रथम संस्करण 1959 ।

: विनोबा भावे के विचार, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी 1972 ।

: सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी 1958 ।

: तीसरी शक्ति, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी 1959 ।

: सर्वोदय और साम्यवाद, सर्वसेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी 1968 ।

: विश्व शान्ति की ओर, अखिल भारतीय सर्वसेवासंघ प्रकाशन, काशी 1958 ।

भट्ट, कृष्णदत्त : बाबा विनोवा कहते क्या हैं? अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1955 ।

मधुलिमये : स्वतंत्रता आंदोलन की विचारधारा, पल्लव प्रकाशन, दिल्ली, 1983 ।

मशरूवाला, किशोरलाल : गांधी और साम्यवाद, अखिल भारत सर्वसेवा संघ, प्रकाशन, काशी 1955 ।

: गांधी विचार दोहन, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली 1991 ।

मार्क्स, कार्ल व एंगेल्स, फ्रेडरिक : कम्युनिस्ट पार्टी घोषणापत्र (अनु.) रमेश सिन्हा, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली 2000 ।

यशपाल : गांधीवाद का शव परीक्षा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1998 ।

राजपुरोहित, कन्हैयालाल : आध्यात्मिक राष्ट्रवाद, साइंटिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर 1991 ।

रोला, रोमा : विवेकानन्द की जीवनी, भाग एक, (अनुवादक) डा. रघुराज गुप्त, अद्वैत आश्रम प्रकाशन विभाग कोलकाता 2001 ।

: महात्मा गांधी, शिवलाल अग्रवाल प्रकाशन आगरा 1948 ।

राघवन, एस. अइयर : दि मॉरल एण्ड पोलिटिकल थॉट ऑफ महात्मा गांधी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन 1978 ।

राममूर्ति : महात्मा गांधी और विश्वशांति, साहित्य निंकुंज प्रकाशन, लखनऊ 1946 ।

रामसुरेश : विनोबा एण्ड हिज मिशन, अखिल भारती सर्व सेवासंघ प्रकाशन, काशी 1962 ।

लोहिया, राममनोहर : मार्क्स, गांधी ऐण्ड सोसियलिज्म, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद 1963 ।

: लोहिया के विचार (सं.) ओंकार शरद, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1977 ।

लेपियर, रिचर्ड टी. : सोशल चेंज, मैग्राहिल बुक कम्पनी न्यूयार्क, 1965।

वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा 1992।

: द पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी एण्ड सर्वोदय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 1959 ।

वर्मा, वेद प्रकाश : दर्शन विवेचना, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय नई दिल्ली 1989 ।

: महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन, वी.एल. प्रिंटर्स, दिल्ली 1979 ।

विश्वास, एस.सी. (सं.) : गांधी थियरी एण्ड प्रैक्टिस: सोशल इमपैक्ट एण्ड कन्टमप्रेरी रिलिवेन्स, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ, एडवान्स्ड स्टडी, शिमला 1969 ।

विश्वबंधु, चटर्जी : गांधी दर्शन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन, आधुनिक युग में गांधी विचार की सार्थकता (सम्पा.) रामजी सिंह 1968 ।

शाह, गुणवंत : गांधी जी के सिद्धान्त नई पीढ़ी की दृष्टि में, (अनुवादक) चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 2001 ।

शर्मा, राम विलास : स्वाधीनता संग्राम, बदलते परिप्रेक्ष्य, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली 1992 ।

शाह, कांतिभाई (सं.) : गांधी जैसा देखा समझा विनोबा ने, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1983 ।

सुमन, रामनाथ (सं.) : सत्याग्रह, गांधी साहित्य प्रकाशन, भवानी कुटीर, इलाहाबाद 1967 ।

: अहिंसा और सत्य, गांधी स्मारक निधि उत्तर प्रदेश 1965 ।

सरकार, सुमित : बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन (अनु.) आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 2002 ।

सोगत, दास : गांधियन कन्स्ट्रक्टस फॉर न्यू सोसाइटी, गांधी मार्ग, 1970 ।

सीतारमैया, पट्टाभि : गांधी और गांधीवाद, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली 1969 ।

सिंह, दशरथ : गांधीवाद को विनोवा की देन, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना 1975 ।

सिंह, रामजी : गांधी विचार (दर्शन, धर्म, राजनीति और अर्थनीति) मानक पब्लिकेशन, प्रा. लि. नई दिल्ली 1995 ।

: दि चेंज आफ हर्ट, ए स्टडी इन गांधीज्म, चम्पा भागलपुर, 1965 ।

: 'साध्य-साधन विवेक', आधुनिक युग में गांधी विचार की सार्थकता, भागलपुर 1968 ।

: गांधियन ऐप्रोच टू सोशल रिवोल्यूशन (सम्पा.) एल.पी. विद्यार्थी, गॉधी ऐण्ड 'सोशल साइन्सेज, नई दिल्ली 1970 ।

: गांधी दर्शन मीमांसा, बिहार ग्रंथ अकादमी पटना, 86 (सं.) ।

सिंह, विजेन्द्रपाल : भारतीय राष्ट्रवाद और आर्यसमाज आन्दोलन, वि. भू. प्रकाशन, साहिबावाद 1977 ।

संठी, जयदेव : गांधी की प्रासंगिकता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979 ।

पत्रिकायें

* इण्डियन ओपिनियन।
* यंग इण्डिया।
* हिन्दी नवजीवन।
* नवजीवन।
* हरिजन सेवक।
* हरिजन।
* सर्वोदय।
* गांधी मार्ग, (अंग्रेजी), नई दिल्ली।
* गांधी मार्ग, (हिन्दी) गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
  द स्ट्रेटसमैन, 1 फरवरी 1957 ।
* इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली, वाल्यूम ।।, नं. 4, अक्टूबर 1984 ।

* * * * * * * *